
समकालीन कहानियां

समकालीन कहानियाँ

संपादक
रमणिका गुप्ता

शब्दसृष्टि

दिल्ली-110092

ISBN : 978-88077-71-7

© रमणिका फाउंडेशन

प्रकाशक

शब्दसृष्टि

एस-658, गली नं. 7, स्कूल ब्लॉक,
(निकट शीतला माता मंदिर), शकरपुर
दिल्ली-110092

एकमात्र वितरक

श्री लघुचयन

10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क,
शाहदरा, दिल्ली-110032

प्रथम संस्करण : 2012

मूल्य : ₹ 350

शब्द-संयोजन : उमे I लेजर प्रिंट्स, दिल्ली-110032

मुद्रक : रुचिका प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032

SAMKALIN KAHANIYAN Edited y Ramnika Gupta

अपनी ओर से

इस संग्रह की कहानियाँ समाज के विभिन्न-संदर्भों सरोकारों से जुड़ी हैं। सामाजिक यथार्थ के विभिन्न आयामों को इन कहानियों के जरिए उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है : हमारा उद्देश्य रहा है कि समकालीन कहानी के विभिन्न तेवर, रुझान और महत्वपूर्ण पहचान को प्रकट किया जाय जिससे यह संग्रह समकालीन कहानियों का प्रतिनिधि-संग्रह बन सके। हम समझते हैं कि इन कहानियों के जरिए समाज के बहुआयामी स्वरूप को समझने में भी मदद मिल सकती है, इसीलिए हमने जहाँ एक ओर वर्गदृष्टि वाली कहानियाँ संकलित की हैं तो वहीं मानवीय सम्बन्धों से टूटता हुआ आदमी का वजूद, राजनीतिक प्रशासनिक भ्रष्टाचार, औरत की सामाजिक स्थिति, बाल मजदूरों की आकांक्षा, आतंकवाद के खतरे आदि विषयों को रेखांकित करती हुई कहानियों को भी लिया है।

संग्रह में संग्रहित रचनाओं के रचनाकारों के हम आभारी हैं साथ ही अपेक्षा करते हैं कि पाठक अपनी बेबाक राय हमें देंगे।

सम्पादक

अनुक्रम

स्टॉप / जोगिन्दर पॉल	9
दाई माँ / रामधारी सिंह दिवाकर	15
छोटू / दिवेन	30
लटकी हुई शर्त / प्रह्लाद चन्द्र दास	37
कबूतर, कछुवा, अजगर और लालबत्ती क्षेत्र/ विनोद मिश्र	44
दौड़ / उषा महाजन	51
चौराहा / सुनील कौशिश	58
वी.आई.पी / कुन्दन सिंह परिहार	62
लालटेन / भगवती प्रसाद द्विवेदी	67
टूटते हुए लोग / मोहन लाल	72
सईद कथा / शैलेश पंडित	81
रिलीफ / नीरज सिंह	90
सफेद बालों बाला तपस्वी / गुरुबचन सिंह	104
बुत बोलते हैं / कमल गुप्त	113
एक नया सफर / मुर्शरफ आलम जौकी	119
पुनरावृत्ति / आनन्द अस्थाना	124
आत्मलीन / जगदीश चतुर्वेदी	130
सड़क पर / गंगा प्रसाद विमल	135
दिखाने के दाँत / वीरेन्द्र सक्सेना	140
रासो, चन्द और मोटरसाइकिल / चन्द्रमोहन प्रधान	146
क्षति-पूर्ति / राजेश जैन	155
ईश्वर / यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	158
चिड़िया / रमणिका गुप्ता	161
इति / श्रवण कुमार	165
औरत आखिर औरत होती है / नमिता सिंह	179

उर्दू कहानी

स्टॉप जोगिन्दर पॉल

शाम बाबू पिछले बारह वर्ष से तारघर में काम कर रहा है, परन्तु वह अभी तक यह बात नहीं समझ पाया है कि यह अनगिनत शब्द बिजली के तारों में कहीं टकरा क्यों नहीं जाते और टकरा कर, बिखर कर अपनी-अपनी समझ-बूझ से नए रिश्तों में जुड़ कर रिसेविंग स्टेशनों पर इस तरह क्यों नहीं पहुँचते बेटे ने माँ को जन्म दिया है या, अफसोस कि बच्चा पैदा हुआ है शाम बाबू किसी मशीन की तरह मकैनिकी ढंग से संदेशों को कोड की रोमन लिपि में उतारता जा रहा है और उस मशीन के अन्दर ही अन्दर इन बौखलाई हुई सोचों का तालाब भर रहा है क्या हर्ज है? जैसे आज बीत रही है हमारे संदेश भी वैसे ही क्यों न हों? 'करता हूँ स्टॉप' तार के अन्तिम शब्द उतारते हुए शायद उसने अपने आपसे पूछा है, क्या करता हूँ? मुझे क्या करना है? जिसके नाम का तार है वही पढ़कर देख लेगा कि उसे क्या करना है परन्तु अनपेक्षित जिज्ञासा सी महसूस करके वह यँ ही इस तार का विषय पढ़ने लगता है अपनी शादी रोक लो। स्टॉप। मैं तुमसे बेइन्तहा मुहब्बत करता हूँ मानो बेचारा थोड़ी-सी मुहब्बत करना भूल गया और फिर बात बिगड़ गई तो सब कुछ छोड़कर मुहब्बत ही पर तुल गया।

शाम बाबू का ध्यान अगले तार की ओर खिंच गया है किसी की मृत्यु पर दुःख व्यक्त करने के लिए तारघर की स्टैण्डर्ड इबारत से सम्बन्धित नम्बर की सूचना मिली हुई है। पैसे भी कम और दुःख को व्यक्त करने का ड्राफ्ट भी सरकार के जिम्मे हँ जो आप ही मर चुका हो वह अपनों की मौत पर क्या दुःख महसूस करेगा? शाम बाबू ने अपने आपको डाँटा है कोई मरे या जीए, तुम्हें क्या? चुपके से अपना काम किए जाओ काम? मुझे तो मरकर भी यही काम किए जाना है मरकर भी? लो यह तार पढ़ो शायद तुम्हारी मौत की सूचना है 'मुबारकबाद पेश करता हूँ, स्टॉप।' उसने जल्दी-जल्दी उतारा है और बेखबर सोच रहा है ठीक ही तो है मैं जीवित कहाँ हूँ? इसके बावजूद मुझे अपने शरीर की टिक-टिक चलाए रखना होती है, नहीं तो मुझे ऑफिस से उठवा दिया जाएगा घर? घर में क्या रखा है? स्टॉप।

शाम बाबू की शादी हुए सात-आठ वर्ष हो चुके हैं परन्तु उसकी पत्नी तभी से अपने माता-पिता के गाँव में उन्हीं के साथ रह रही है। अपनी शादी के अवसर पर वह उसकी डोली उठवा के गाँव के बाहर ले आया परन्तु फिर जो समझ में न आया कि उसे कहाँ ले जाए तो उसने डोली का मुँह वापिस गाँव की ओर फिरवा लिया।

“यह तुमने बहुत अच्छा किया बेटा”, उसकी सास ने कहा था, “जो एक बार इसे गाँव से बाहर ले गए, कम से कम रस्म तो पूरी हो गई।”

शुरू-शुरू में तो उसकी बेचैनी का यह हाल था कि सोते में भी पत्नी के गाँव का रुख किए होता तुम घबराओ नहीं, सावित्री, ज्यूँ ही कोई अच्छी-सी भाड़े की खोली मिल गई, उसी दम तुम्हें यहाँ ले आऊँगा, परन्तु बुरा हो इस इतने बड़े शहर का, इतना भी दिल नहीं कि उन्हें इकट्ठा रहने के लिए एक ही कमरे का छोटा-सा घर दे दे। पूरे साढ़े सात बरस इसी तरह गुजर गए हैं। मैं यहाँ और वह साढ़े पाँच सौ मील पर वहाँ। पहले पहल शाम बाबू बीस कम तीन सौ पैंसठ दिन अपनी बीस दिन की अंडर लीव का इन्तजार करता रहता और समय आने पर रेलगाड़ियों, बसों और ट्रकों को बदल-बदल कर अपनी पत्नी के घर आ पहुँचता। उसकी इच्छा इतनी प्रचण्ड होती कि सज-धज कर तैयार बैठी पत्नी को बेअख्यार गले लगाते ही उसकी सीटी बज जाती और शरमिंदगी से मुस्कराते हुए वह मानो अपनी किसी दफ्तरी गलती पर जरा-सा सर झटक देता।

एक-दो-तीन वर्ष तो शाम बाबू हर वर्ष अपनी पत्नी से मिलने गया, परन्तु चौथे वर्ष ऐन छुट्टी के दिनों में बीमार हो गया फिर पाँचवें वर्ष जो जाना हुआ तो उसके बाद पूरे ढाई साल न जा पाया जो पैसे, इस प्रकार जाया होंगे उनसे आधों का भी उस महीने ज्यादा मनीआर्डर करवा दूँगा तो इस भली लोग के बीसों काम निकल जाएँगे हाँ, उनका एक लड़का भी है जिसके बारे में उसकी पत्नी ने लिखा है कि वह उसे पाँचवे वर्ष के दौरे में उसकी कोख में डाल आया था परन्तु शाम बाबू का सारा हिसाब-किताब इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि उसका बेटा उसका बेटा नहीं शायद इस कारण से भी उन ढाई वर्षों में वहाँ न गया था। तथापि उसने इस विषय में अपनी पत्नी को कुछ न लिखा था, जो है सो ठीक है वह बेचारी भी क्या कर सके? और मैं भी क्या करूँ? कभी अच्छे दिन आ गए तो सब कुछ अपने आप ठीक हो जाएगा, उसे और उसके हमारे बच्चे को यहीं अपने पास ले आऊँगा और फिर चैन से बसर करेंगे बड़े चैन से।

“शाम बाबू! शाम बाबू!”

उसके दफ्तर का कोई साथी उसका कन्धा झटक रहा है। मशीन में कोई नुक्स पैदा हो गया है और वह रुकी पड़ी है।

“शाम बाबू!”

“अ-आँ !” उसने हड़बड़ा कर अपनी आँखें खोल ली हैं।
“तबीयत खराब है तो घर चले जाओ !”
“कौन से घर? नहीं ठीक हूँ। यूँ ही जरा ऊँघ लग गई थी।
टिक-टिक-टिक। मशीन फिर चलने लगी है।
“तुम्हारे लिए पानी मँगवाऊँ?”
“अरे भाई कह दिया न, ठीक हूँ।”

उसके साथी ने आश्चर्य से उसके काम पर झुके हुए सर की ओर देखा है और फिर अपने काम में उलझ गया है। शाम बाबू को अपना मन अचानक भरा-भरा लगने लगा है।

आम तौर पर यूँ ही होता है कि उसे न अपनी खुशी की खबर होती है न गम की वह जैसा भी होता है बेखबरी में ही वैसे होता है। उसे मालूम ही नहीं होता कि वह क्या कर रहा है और यूँ सब कुछ होता चला जाता है। वह बेखबर सा अपने आप अपने दफ्तर में आ पहुँचता है और सारा दिन कलम चला-चलाकर ठिकाने पर लौट आता है। और फिर दूसरे दिन वैसे ही ड्यूटी पर आ बैठता है। और कोई खास बात इसी के बारे में सोचते हुए ऐन वहीं न देखे जहाँ वह बैठा हो तो उसे उसकी उपस्थिति का आभास ही न हो। उस दिन तो हद हो गई। उसका बॉस उसके पास ही खड़ा था और पूछ रहा था कि भई शाम बाबू कहाँ हैं? शाम बाबू! शाम बाबू उसके पहलू में ही अपनी सीट पर पूरे का पूरा बैठा था परन्तु अपने बॉस को दिखाई न दे रहा था। वह निःसंदेह उसकी आवाज सुन रहा होगा, परन्तु सचमुच सुन रहा होता तो खड़े होकर उत्तर क्यों न देता यस सर। ऐसे भूले भटके चेहरे शायद आँखों में ठहरने की बजाय हमारी आत्मा में लुढ़क जाते हैं। उनसे सम्बोधित होना हो तो अपनी ही थोड़ी-सी जान देकर उन्हें जीवित कर लेना पड़ता है वरना वह स्वयं वहाँ कहाँ?

माँस को रगों में खून दौड़ने की सूचना मिलती रहे तो वह जीवित है नहीं तो वह मिट्टी होता जाता है। जब शाम बाबू का अपना जीवन असंदेश है तो उसे कैसे महसूस हो कि टेलीग्रामों के टैकस्ट बिजली कोड की ओट में हँस रहे हैं, रो रहे हैं या गुमसुम पड़े हैं? मरी-मरी मिट्टी पर कुछ भी लिख दीजिए, उसे क्या? शाम बाबू को इससे क्या, कि कोई किसे क्या संदेश भेज रहा है। उसके भाग्य में तो किसी का संदेश नहीं, प्रेम का या नफरत का, खुशी या गम का? उसकी पत्नी? हाँ, वह उसे हर महीने निरन्तर अपने वेतन का एक तिहाई भेज देता है और वह उसे पैसों के पहुँचने की खबर कर देती है और उसके साथ वही एक फालतू-सा वाक्य लिखकर कुछ इसी तरह अपने पास बुलाती है जैसे कह रही हो, आ सकते हो तो आ जाओ, और नहीं आ सकते तो हमारी चिन्ता मत करो, हम सब पूर्ण रूप से सकुशल हैं पूर्ण सकुशल क्या होता है शाम बाबू का मन बहुत भर आया है ‘स्टॉप, मैं विदेश से लौट आया हूँ

स्टॉप’ उसने अपना सर उठा कर देखा कि साहब का चपरासी उसकी ओर एक सरकारी पत्र बढ़ा रहा है। उसने पत्र लेकर उस पर नजर दौड़ाई है फिर चौंक कर खुशी से काँपते हुए उसे दोबारा पढ़ने लगा है। उसे सूचित किया गया है कि ‘तुम्हारे नाम दो कमरों का क्वार्टर मंजूर हो गया है’

“किदार बाबू! किशन! देखो! देखो!”

“क्या है भाई?”

“मेरा क्वार्टर मंजूर हो गया है।”

“अच्छा?”

“यह तो बहुत अच्छा हुआ, शाम बाबू!”

“शाम बाबू, सबके लिए चाय हो जाए।”

“चाय ही क्या, कुछ उधार दे सकते हो तो खाने के लिए भी जो चाहो मँगवा लो।”

“हाँ, चिन्ता मत करो, मैं सारा प्रबन्ध किए देता हूँ। अरे, आओ, रामू।... इधर आओ रामू, बाहर वो होटल वाला है न, उसे बुला लाओ।... अब भाभी को कब ला रहे हो शाम बाबू?”

“आज ही छुट्टी की अर्जी दे दूँगा।”

शाम बाबू मन ही मन अपने क्वार्टर में बैठा खाना खा रहा है। और उसके कन्धों पर उसका लड़का खेल रहा है क्या नाम है उसका? देखो न, दिमाग पर जोर डाले बिना इकलौते बच्चे का अपना ही तो है नाम भी याद नहीं आता अरी सुन रही हो भली लोग? अगली चपाती कब दोगी? दफ्तर को देर हो रही है।

“लो शाम बाबू, होटल वाला तो आ गया है हर एक के लिए एक चाय, एक गुलाब जामुन और एक समोसा चलेगा न शाम बाबू?”

शाम बाबू को पता ही नहीं चला है कि दफ्तर में बाकी सारा समय कैसे बीत गया है। वहाँ से उठने से पहले उसने अपने साथियों से वादा किया है कि वह उन सबको उनकी भाभी की तसवीर दिखाएगा।

“इतनी भोली है कि डरता हूँ इस शहर में कैसे रहेगी?”

“डरो नहीं शाम बाबू भाभी को लाना है तो शेरि बब्बर बनकर रहो।”

“हा हा हा हा हा ।”

दफ्तर के बाहर सड़क पर छः बजे से ही अंधेरा छाने लगा है। शाम बाबू तेज कदम उठाते हुए यहाँ चौराहे पर आ गए हैं और पान और सिगरेट लेने के लिए रुक गए हैं और फिर तम्बाकू वाले पान का लवाब गले से उतारते, नथुनों से सिगरेट का धुआँ बिखेरते, हल्की-हल्की सर्दी में गर्मी महसूस करते हुए वह धीरे-धीरे अपने बसेरे के अड्डे की ओर हो लिया है एक छोटी-सी खोली, जिसमें मुश्किल से एक चारपाई

आती है। अभी पिछले ही महीने खान सेठ ने उसे धमकी दी थी कि भाड़े के दस रुपए बढ़ाओ या इसे खाली कर दो।

“चूहे की इस बिल के पहले ही पचास रुपए वसूल करते हो खान सेठ! अपने खुदा से डरो।”

परन्तु खान सेठ ने मानो अपने खुदा को डराने के लिए एक कहकहा लगाया।

इसी महीने खाली कर दूँगा। यह लो अपनी खोली, खान सेठ! तुम्हारी कब्र के पूरे साइज की है सँभालो नहीं झगड़े-बगड़े का क्या फायदा? चुपके से उसकी खोली उसके हवाले करके अपनी राह लूँगा। बस स्टॉप आ गया है और बस भी खड़ी है।

परन्तु बस बहुत भरी हुई है। शाम बाबू ने निर्णय कर लिया है कि वह पैदल ही जाएगा। यहाँ से एक ही किलोमीटर तो है उसकी सिगरेट जल-जल कर ऊँगलियों तक आ पहुँची है परन्तु अभी तक उसकी चाह ज्यूँ की त्यूँ है। उसने हाथ का टुकड़ा फेंक कर एक और सिगरेट सुलगा ली है सावित्री को मेरा सिगरेट पीना बिल्कुल पसन्द नहीं है। फेफड़े भी जलाते हो और पैसे भी। इससे तो अच्छा है मेरा ही एक सिरा जला कर दूसरे को होंठों में दबा लो और धुआँ छोड़ते जाओ। मेरा मजा क्या सिगरेट से कम है? अरी भली लोग, तुम्हारा ही तो एक मजा है। सिगरेट-बिगरेट की लत को गोली मारो आओ। शाम बाबू ने ख्याल ही ख्याल में पत्नी को सीने से लगा लिया है। रास्ते में दूसरी दिशा से आती हुई एक स्त्री से टकरा गया है और उसे लगा है जैसे उसकी सावित्री ने उससे अलग होने के लिए अपने आपको झटका दिया है अरे! उसने अन्धेपन में अपना हाथ उस स्त्री की ओर फैला दिया है इडियट! वह स्त्री गुस्से से फुँकारती हुई आगे बढ़ गई है। और शाम बाबू शर्मिदा हो जाने के बजाय वैसे ही खुश-खुश हैं और स्त्री की पीठ की ओर मुँह उचकाकर उसने ऊँची आवाज में कहा है आई एम सॉरी मैडम! शाम बाबू अपने जेहन को झाड़ रहा है और उड़ती हुई धूल में उसकी पत्नी जोर-जोर से हँस रही है और टकराओ पराई औरतों से! एक मैं ही तो हूँ जो बिना रोक-टोक सब कुछ कर लेने देती हूँ। किसी और की तरफ जरा नजर उठाके देखो! किसी और की तरफ देखने की मुझे जरूरत ही क्या है भली लोग? मेरे लिए तो बस तुम ही तुम हो शाम बाबू ने अपने आपको फटकार कर समझाया है; नहीं, तुमने अपनी पत्नी के माथे पर ऐसे ही कलंक का टीका लगा रखा है। तुम्हारा बच्चा तुम्हारा ही है और यदि मान भी लें कि तुम्हारा नहीं, तो इसमें सावित्री का क्या दोष? उसका सारा साल तुम्हारी अंडर लीव के दस-बीस दिन का तो नहीं चलो सब ठीक है। मेरा बच्चा मेरा ही है हमारे मीटू की आँखें बिलकुल तुम्हारी आँखों जैसी हैं। शाम छोटी-छोटी! माथा मुझ पर गया है परन्तु ठोड़ी तुम्हारी है चलो सब ठीक है। मैं भी कैसा बाप हूँ। बेटा दो बरस का हो लिया है किन्तु मैंने

उसे एक बार भी नहीं देखा। पिछले वर्ष मुझे एक चक्कर काट आना चाहिए था आज छुट्टी की अर्जी दे आता तो अच्छा होता। अब कल पहला काम यही करूँगा और इस सप्ताह के अन्त में यहाँ से निकल जाऊँगा। पत्र के बगैर अचानक उसके सामने जा खड़ा हूँगा सावित्री! और वह आँखें मल-मल कर मेरी ओर देखती रह जाएगी सावित्री! उसे लगेगा कि वह खुली आँखों से स्वप्न देख रही है और वह बरबस रो देगी उठते-बैठते तुम्हारी ही सूरत दिखाई देती है। अब तो आ जाओ। और मैं आगे बढ़कर उसे गले लगा लूँगा और वह मेरी बाँहों में बेसुध हो जाएगी सावित्री! अपनी खोली के सामने पहुँच कर शाम बाबू ने बेबस अपनी पत्नी को पुकारा है, परन्तु वहाँ उसके तारघर के रामू ने आगे बढ़कर उसे उत्तर दिया है “बाबू जी?”

“अरे रामू, तुम?” शाम बाबू होश ठिकाने लाने की चेष्टा करता है, “कैसे आए?”

“बाबूजी!” रामू की आवाज भारी है और वह बोलते हुए झिझक रहा है।

“इतने उखड़े-उखड़े क्यों हो? बोलो न?”

“आपका तार लाया हूँ।”

“मेरा तार?”

“हाँ बाबूजी, यह तार आप ही के हाथ का लिखा हुआ है, पर आपका ध्यान ही नहीं गया कि आपका है।”

तार! पढ़ने के लिए शाम बाबू तार का लिफाफा तेज-तेज चाक कर रहा है “सावित्री ने आत्महत्या कर ली है, स्टॉप।”

उर्दू से अनुवाद : कृष्णा पॉल

दाई माँ

रामधारी सिंह दिवाकर

मीठी-मीठी थपकियाँ देते-देते जब उनको इल्मीनान हो गया कि मुन्ना सो गया है तो एक बार झुक कर उन्होंने मुन्ने की बन्द पलकों को निहारा। सम्मोहित हुई-सी कुछ देर मुन्ने के सुन्दर चेहरे को देखती रहीं। धप-धप गोरा चेहरा, छोटे-छोटे काले चमकीले बाल और ललाट के ठीक ऊपर बालों की छोटी-सी भंवर। बहुत धीरे से उन्होंने बालों की चक्राकार भंवर को उंगलियों से छुआ और कुछ क्षणों के लिए स्मृतियों में खो गईं। उनको समीर के माथे के ऐसे ही बालों की याद आ गई। यह मुन्ना भी ठीक समीर पर गया है। दाहिने हाथ की तर्जनी से वे बालों के उस चक्राकार भंवर को सहलाती रहीं। दो पल झपकी लेने के विचार से तकिए पर सिर रखना चाहा तो सामने ट्रेसिंग टेबुल का आईना सहसा दिख गया। आईना क्या दिखा, दरअसल उन्होंने खुद को देख लिया। बिना वजह वे अपनी शक्ति आईने में देखती रहीं। टूँठ हो रहे बालों की पोटली-सी बना ली माथे पर और मुन्ने की बगल में लेट गईं। सोचती रहीं कि एक झपकी ले लें, फिर बर्तन-बासन धो डालेंगी। चार बजे पिंकी और रंजन भी स्कूल से आ जाएँगे। उनको नाश्ता भी देना है। समीर और बड़ी बहू तो बोल कर गए हैं कि रात तक आएँगे खा-पी कर। कोई शादी अटेंड करनी है उनको।

मुन्ना गाड़ी नींद में था, फिर भी वे जाने क्यों हल्की-हल्की थपकियाँ देती रहीं। अतिशय स्नेह के कारण वे ऐसा कर रही थीं या अपनी ही नींद को बुलाने का उपक्रम कर रही थीं, यह उनकी समझ में स्पष्ट नहीं था। थपकियाँ देते-देते नींद का हल्का-सा झोंका आया कि बगल के कमरे से सिप्पी के टुकने की आवाज आई। हड़बड़ा कर वे उठ बैठीं और झपटती हुई दूसरे कमरे में चली गईं। डेढ़ साल की सिप्पी ने पलंग पर ही पेशाब कर दिया था। गनीमत थी कि प्लास्टिक का कवर था बेड पर। सिप्पी को लिए वे बाथरूम में गईं। कमर से नीचे तक धुलाया, तौलिए से पोंछा और निक्कर बदल दी। छोटी बहू की सख्त हिदायत है कि बच्चा यदि निक्कर में पेशाब कर दे तो सिर्फ निक्कर बदलना काफी नहीं है, शरीर को धुला देना भी जरूरी है, अन्यथा इन्फेक्शन का डर रहता है।

कपड़े बदल कर माँ जी ने उसे गोद में ले लिया और बाहर बाल्कनी में आ गई। कुछ ही मिनटों में कमर दुखने लगी तो सिष्पी को फर्श पर खड़ा कर दिया और सामने राजपथ की ओर देखने लगीं। बाल्कनी से राजपथ की भीड़ साफ-साफ दिखती है। दिन के तीसरे पहर भी वैसी ही ट्रैफिक है, वाहनों की वैसी ही आवाजें हैं। अब तो महानगर की ये आवाजें कानों में रच-बस कर स्थायी संगीत जैसी हो गई हैं। इस प्लैट की जगह भी विचित्र है। आस-पास की ऊँची-ऊँची इमारतों के कारण समय का ठीक-ठीक आभास यहाँ से होता ही नहीं। आता-जाता सूरज भी साफ-साफ दिखता नहीं है, सिर्फ अहसास दिलाता है अपनी स्थिति का। गर्मियों में जब सूरज आकाश के बीचोंबीच का अपना रास्ता तय करता है तब पश्चिम वाली खिड़की के पास डूबने के पहले थोड़ी देर के लिए रुक जाता है। खिड़की पर सूरज के जाने में कोई दो-ढाई महीने की देर है। अभी तो अप्रैल चढ़ा ही है।

सिष्पी को गोद में लिए माँ जी बाल्कनी में खड़ी एकटक सामने के व्यस्त राजपथ को देखती रहीं। सोचती रहीं कि समीर और नीलाम्बर के बच्चों के स्कूल से लौटने का समय शायद हो रहा है। मन में आया कि सिष्पी को मुन्ने के कमरे में रख दें और बर्तन-बासन धो डालें। दोनों बहुओं के अलग-अलग बर्तनों को माँजने-धोने में भी काफी समय लग जाता है। बर्तन जब तक चमक न जाएँ तब तक मन को संतोष ही नहीं मिलता है।

बाल्कनी में खड़े-खड़े कमर और पैर दुखने लगे। वे अपने कमरे में आ गईं। अपना कमरा यानी दोनों बेटों का स्टोर रूम जो 'माँ जी का कमरा' कहा जाता है। घरेलू उपयोग में आने वाली और उपयोग से बेकार हो गई चीजों को रखने का कमरा है माँ जी का कमरा। एक फोल्डिंग खाट लगी है कमरे में। पीली रोशनी का एक बल्ब प्रायः दिन-रात जलता रहता है। बड़े बेटे समीर और छोटे बेटे नीलाम्बर के कमरों के बीच यह स्टोर रूम है। पहले भी यह स्टोर रूम था, आज भी स्टोर रूम है। बेड रूम के लिए अशोभनीय वस्तुओं के रखने का कमरा यही है। इस कमरे में लंबे अरसे से रहते-रहते माँ जी को कभी-कभी लगता है, वे टूटे-फूटे कनस्तरों, सड़ी-गली बोरियों और बेकार हो गई ऐसी ही चीजों के ढेर में शामिल हैं।

स्टोर रूम वाले कमरे में बिछी खाट पर वे बैठ गईं और सिष्पी को भी अपनी बगल में बिठा लिया। सिष्पी ठुनकने लगी तो उनको सिष्पी की भूख की याद आई। गैस स्टोव जला कर फारेक्स तैयार किया और गोद में बिठा कर चम्मच से खिलाने लगीं। खाट के पिछले सिरे पर पार्टिशन दिया हुआ है। बाईं तरफ के पार्टिशन में समीर के घरेलू सामान हैं और दाहिनी तरफ के पार्टिशन में नीलाम्बर के। आटा-चावल-दाल, आलू-प्याज-मसाले, तरह-तरह के मर्तबान, टिन और प्लास्टिक की डिब्बे-डिब्बियाँ हैं। स्टोर रूम में चूहा फिर कुछ कुतर रहा है। उन्होंने कुतरने की जगह का अन्दाजा

लगाया। दूसरे तल्ले के इस फ्लैट में जाने कैसे आ जाते हैं चूहे! और ये चूहे आज से नहीं हैं, वर्षों से हैं उस समय से जब माँ जी देहाती दुल्हन के रूप में यहाँ आई थीं। समीर, नीलाम्बर और नेहा किसी का भी जन्म तब नहीं हुआ था। महानगर में रहने का उल्लास लेकर पति के साथ आई थीं, उस समय से हैं ये चूहे। और तब से जाने क्या कुतर रहे हैं।

दिल्ली आने की स्थितियों पर उन्होंने सोचा तो स्वयं पर ही हँसी आ गई।

...ससुराल आए चार वर्ष हुए थे। पहली बिदाई में आई थीं तब गाँव-जवार में चर्चा थी कि दुल्हन मैट्रिक पास है, घड़ी बाँधती है, उल्टे पल्लू वाली साड़ी पहनती है। बड़े घर से आई है। चार एकड़ जमीन दुल्हन को दान में मिली है।...पूरे गाँव-जवार की औरतें देखने आती थीं और छोटी बहू की सुन्दरता और विनम्रता की चर्चा करती थीं। 'दूधो नहाओ, पूतों फलो' के आशीष की जैसे पुष्प-वर्षा होती रही थी। किसी भी जात की 'बुढ़-पुरनियाँ' होती तो बहू पैर छूती थी। गंवार लड़कियों से भी हिल-मिल कर बतियाती थी। इस कारण तो और भी प्रशंसा हो रही थी छोटी बहू की। लोग कहते कि बहू पढ़ी-लिखी है, इतने धनी परिवार से आई है, फिर भी जरा-सा घमंड नहीं है।

दो बड़ी जिठानियाँ थीं। दोनों साक्षर भर थीं। गाँव से गाँव में आई थीं। दोनों जेठ खेती-बाड़ी के काम में लगे हुए थे। एक छोटी ननद थी जो गाँव के मिडल स्कूल की अंतिम पढ़ाई पूरी कर शादी के लिए तैयार हो रही थी। तीन भाइयों में सबसे छोटे थे 'वे'। परिवार में वही सबसे ज्यादा पढ़े-लिखे यानी बी. कॉम. पास थे और दिल्ली में एकाउंटेंट की नौकरी पर लग गए थे। परिवार में जमीन हालाँकि ज्यादा नहीं थी, लेकिन उपजाऊ होने के कारण कोई दिक्कत नहीं थी।

परिवार में सब जानते थे कि छोटी बहू पढ़ी-लिखी है, धनी परिवार से, सुख-सुविधाओं के बीच से, आई है। सबका ध्यान रहता था कि बहू को किसी तरह की कमी महसूस न हो। छोटी बहू के इशारे भर की देर होती थी। अम्मा जी चूड़ियाँ, आलता, पाउडर, बिन्दी वगैरह बगल के कस्बे से मँगा देती थीं। दो-चार महीने पर मायके से भी कोई न कोई आता ही था। साज-शृंगार के ऐसे सामान माँ भेज दिया करती थी। कितना सुखद प्रतीत होता था सम्मिलित परिवार का वह वातावरण। लगता ही नहीं था कि सम्मिलित परिवार बोज़ की तरह होता है या किसी तरह की घुटन होती है।

एक नियम-सा बना हुआ था बहुओं के लिए। रोज रात सोने से पहले तीनों बहुएँ अम्मा जी के हाथ-पैर दबाती थीं तब अपने-अपने कमरे में जाती थीं। सबसे अन्त में छोटी बहू की बारी रहती थी। अम्मा जी के पैर दबाते-दबाते छोटी बहू कभी वहीं सो जाती थी। रात में कभी नींद खुलती तो छोटी बहू पाती कि अम्मा जी उसकी

देह पर हाथ रखे और अपने से एकदम सटाए सोई हुई हैं। अम्मा जी प्रायः देर रात तक कोई न कोई किस्सा या कथा-गीत सुनाती थीं। दोनों जिठानियाँ अम्मा जी के पैर-हाथ दबा कर चली जातीं, छोटी बहू अम्मा जी से किस्से-कहानियाँ सुनती रहती। कुछ किस्से तो अब तक याद हैं। एक किस्सा 'कौवा हंकनी' का था जिसमें एक बदमाश सास थी और छोटी बहू को दुख देने वाली जिठानियाँ थीं। छोटी बहू बड़ी भोली-भाली थी। छोटा बेटा परदेस कमाने गया था और कई वर्ष बीत गए थे। सास और जिठानियाँ छोटी बहू को बहुत सताती थीं। उससे उपले पथवार्ती, जंगल से लकड़ी लाने को कहतीं और फसल की रखवाली करने को भेजतीं। बेचारी छोटी बहू भूखी-प्यासी फसल की रखवाली करती, कौवे-चिड़िया चुनमुन उड़ाती। उसे फटे-पुराने कपड़े दिए जाते। छोटी बहू सारे दुख सहती और दिन-रात पति की राह देखा करती थी। एक दिन वह सिर पर लकड़ियों का गट्टर लिए जंगल से लौट रही थी। कई घोड़ों और हाथियों वाला कोई व्यापारी उसी रास्ते से लौट रहा था। सिर पर लकड़ियों का गट्टर लिए छोटी बहू एक किनारे खड़ी हो गई और घोड़े-हाथियों की कतार को देखने लगी। गाँव से बाहर एक बगीचे में व्यापारी ने पड़ाव डाला था। जाहिर था कि वह व्यापारी छोटी बहू का पति था और अपार धन कमा कर घर लौट रहा था। सास को जब खबर मिली कि उसका छोटा बेटा धन कमा कर घर लौटा है, बगीचे में पड़ाव डाले हुए है तो सास-जिठानियों ने छोटी बहू को झटपट नहलाया-धुलाया, नए कीमती कपड़े पहनाए, इत्र-फुलेल लगाया। जिठानियों ने अपने-अपने गहने देकर छोटी बहू का श्रृंगार किया। पाँवों में महावर रचे। सोलह श्रृंगार किए। छोटा बेटा आँगन में आया। दरवाजे पर हाथियों-घोड़ों पर सोना-चाँदी-हीरे-जवाहरात लदे हुए थे। माँ ने बेटे को गले से लगा लिया। जिठानियाँ भी तरह-तरह से अपने देवर को रिझाने लगीं। छोटा बेटा अपनी पत्नी के पास गया। सही बात भला छिपाए छिपती हैं? पैरों में महावर लगा देने से क्या होता? पैरों में फटी बिवाई साफ-साफ दिख रही थी। मेंहदी रची हथेलियों से उपले पाथने की कुरूपता छिपाए नहीं छिप रही थी। चेहरे की आभा मिट गई थी। शरीर सूख गया था। बिना बताए ही बेटे ने सब कुछ समझ लिया।...और उसके बाद जैसा कि अम्मा जी की सारी कहानियों में होता था...कौवा हंकनी वह छोटी बहू रानी बन गई। उसके दिन फिर गए। फिर ऐसा भी समय आया जब उसकी जिठानियाँ उसी की 'लौंडियाँ' बन गईं।

अम्मा जी इस कथा को गीत की लड़ियों में गूँथ कर गाती थीं। इतना कोमल-मधुर स्वर था अम्मा जी का कि सुनते-सुनते नींद आ जाती थी।

गाँव में पड़ी छोटी बहू और दिल्ली में नौकरी करते पति। साल में दो-तीन बार वे दिल्ली से गाँव आते थे। जब तक वे घर में रहते, अम्मा जी छोटी बहू को घर का कोई काम नहीं करने देती थीं। दोनों बड़ी बहुओं के साथ घरेलू कामों में वे खुद लग

जातीं, लेकिन छोटी बहू को तिनका तक न छूने देतीं। कहतीं कि छोटका बउआ इतने दिनों बाद घर आया है, ऐसे समय छोटी बहू घर का काम-काज करेगी? कभी-कभी तो ऐसा होता कि अम्मा जी खुद चाय-नाश्ता तैयार कर कमरे में ले जातीं। दोनों जिठानियों में भी होड़ लग जाती कि देवर-देवरानी को क्या-क्या बनाकर खिलाएँ।

उन दिनों भी जब पति घर में होते, छोटी बहू सोने से पहले अम्मा जी के पैर दबाने जाती थी। अम्मा जी लाख मना करतीं, लेकिन एक आदत-सी बन गई थी। अम्मा जी के पैर दबाए बिना जैसे मन को शांति ही नहीं मिलती थी।

इसी तरह कोई चार साल बीत गए थे ससुराल में। घर में कोई कमी न होने के बावजूद छोटी बहू को अपने निविड़ एकांत में ऐसा प्रतीत होता जैसे पति से अलग वह अधूरी और अकेली है। पति को तो हिम्मत ही नहीं होती थी कि बाबू जी से कहें कि दुलहिन को वे अपने साथ रखना चाहते हैं। बाबू जी घर से चार-पाँच किलोमीटर दूर नदी पार 'कामत' पर रह कर खेती-बाड़ी देखते थे। महीने-दो-महीने पर एक-दो दिन के लिए घर आते थे। उनको तो जैसे यह याद ही नहीं था कि छोटा बेटा दूर दिल्ली में नौकरी करता है, अकेला रहता है, होटल में खाता है और छोटी दुलहिन यहाँ गाँव में बेमतलब पड़ी हुई है। आखिर हिम्मत बाँध कर पति ने अम्मा जी से दुलहिन को साथ दिल्ली ले जाने की बात कही थी। अम्मा जी ने बाबू जी को खबर भिजवाई थी। बाबू जी कामत से आए थे और दुलहिन को साथ ले जाने की अनुमति मिल गई थी।

उसी दरम्यान अम्मा जी ने और किस्सा सुनाया था। वह किस्सा एक माँ-बेटी का था। बेटी की ससुराल गरीब हो गई है। किसी शादी के अवसर पर बेटी माँ के घर आई है। गरीबी के कारण उपयुक्त न्योता भी नहीं ला सकी है वह। भाई-भौजाइयाँ, यहाँ तक कि माँ भी अपनी बेटी को नहीं पूछ रही है। बेटी को कोई खाने के लिए भी नहीं कह रहा है। बेटी मन मसोस कर रह जाती है। शादी समाप्त होती है और वह अपने दुलहे के साथ ससुराल चली जाती है। कुछ वर्षों बाद माँ के घर ऐसा ही कोई अवसर आता है। इस बीच बेटी धनी हो गई है। पालकी पर चढ़ कर आई है। साथ ख्वास हैं, नौकरानियाँ हैं। गहनों से लदी हुई है बेटी। माँ बेटी को देखती है तो गले से लगा लेती है। भौजाइयाँ बलैया लेती हैं। सब आव-भगत में लग जाती हैं। भाई भी आगे-पीछे करने लगते हैं। तरह-तरह के पकवान तैयार कर माँ और भौजाइयाँ बेटी के सामने रखती हैं। माँ कहती है, "खाओ बेटी" बेटी अपने गहने उतारती है और गहनों से कहती है

“झमका खाओ, नथनी खाओ,
खाओ रे मुदरीका
बाँक खाओ, बाजूवन खाओ,
खाओ रे मंगटीका।”

बेटी एक-एक गहने को शरीर से उतारती है और पकवानों से भरी थाली से छुआ कर गहने से कहती है कि खाओ। यह किस्सा कहते-कहते अम्मा जी अन्त में हँसने लगती थीं।

अम्मा जी के किस्सों और कथा-गीतों में एक विचित्र बात होती थी। उनमें कहीं-न-कहीं धन अवश्य होता था और उसी धन के आस-पास मान-अपमान की सारी घटनाएँ घटित होती थीं।

दिल्ली जाने के बाद दुनिया ही बदल गई। अम्मा जी के स्नेह की छांह उठ गई। गट्टर में जो सपने बाँध कर लाई थीं, वे सपने खुले में रखे कपूर की तरह धीरे-धीरे उड़ गए। पहले समीर का जन्म हुआ, कोई दो साल बाद नीलाम्बर का जन्म हुआ और लगभग तीन साल बाद नेहा जन्मी। सबकी देख-भाल, लिखाई-पढ़ाई। सारा भार आ गया उन्हीं पर। पति को दफ्तर की व्यस्तता रहती थी। 'शहर सिखाए कोतवाली' वाली कहावत चरितार्थ हुई। कहाँ तो देहात की छुई-मुई दुलहिन और कहाँ दिल्ली जैसा शहर। लेकिन सारा रंग-ढंग पकड़ में आ गया। गाँव में पहले अम्मा जी के देहान्त की खबर मिली, फिर ससुर के देहान्त की। भाइयों में जमीन-जायदाद का बँटवारा हो गया। बँटवारे के समय समीर के पापा गाँव गए थे। अपने हिस्से की जमीन उन्होंने उसी समय बेच दी और उन्हीं रुपयों से दिल्ली में यह फ्लैट खरीदा गया।

...कॉलबेल की आवाज सुनकर वे सहसा अपने में लौट आती हैं। बटन दबाने के अन्दाज से ही समझ जाती हैं कि पिंकी और रंजन स्कूल से लौट आए हैं। हड़बड़ा कर उन्होंने उठना चाहा, लेकिन कमर और घुटनों के दर्द के कारण उठने में देर लगी। कमर को दोनों हथेलियों से दबाए वे दरवाजे की तरफ बढ़ीं। किवाड़ खुलते ही पिंकी और रंजन की पीठ पर ही वे कमरे में आ गईं कि कहीं सिंपी जग न जाय। कमर और घुटनों के दर्द के कारण जी में आया कि अपने कमरे में जा कर लेट रहें। फिर सोचा कि छोटी बहू अब आती ही होगी। किवाड़ खोलने के लिए उठना पड़ेगा। वे छोटी बहू के कमरे में ही पलंग के नीचे प्लास्टिक की पटिया बिछा कर लेट गईं। कमर के दर्द के कारण करवट लेने में भी तकलीफ हो रही थी। जब-जब पुरवैया चलती है, कमर और घुटनों का दर्द बढ़ जाता है। कभी-कभी तो उठा तक नहीं जाता। बेटों से कहते नहीं बनता है। कहे क्या, वे देखते नहीं हैं कि माँ बिछावन पर पड़ी रह गई थीं तब नीलाम्बर किसी डॉक्टर से पूछ कर दवा ले आया था। दोनों बहुएँ स्टोर रूम में सामान लेने आई थीं, तो सिर्फ पूछ भर लिया था कि क्या हुआ है माँ जी। माँ जी ने कमर पर हाथ रख कर कहा था कि कमर में और घुटनों में दर्द है, उठा नहीं जाता। बहुओं ने सिर्फ सुन भर लिया था। बहुओं को घर के काम-काज खुद करने पड़ रहे थे, इसलिए नीलाम्बर दफ्तर से लौटते वक्त दवा लेते आया था। दूसरे दिन से झुकी

कमर और घुटनों का दर्द लिए माँ जी दोनों बहुओं के कमरे पोंछने से लेकर बर्तन-बासन माँजने तक के काम करने लगी थीं।

जानलेवा परेशानी तो जाड़ों में शुरू होती है। रात-बिरात कभी बाथरूम जाने की जरूरत होती है तो प्राण ही निकलने लगते हैं जैसे कराहने की आवाज बहुओं के कमरों तक न पहुँचे, इसकी भी कोशिश करनी पड़ती है। बहुएँ सुन लेती हैं तो भुनभुनाने लगती हैं मधुमक्खियों की तरह।

चार-पाँच महीने पहले इसी जाड़े में बड़ी बहू ने माँ जी को सुबह देर तक सोए हुए देखा था तो पूछने आई थी दर्द के विषय में। पूछ कर चली गई थी चुपचाप। माँ जी दो दिनों तक कमरे में ही पड़ी रह गई थीं। बारी के मुताबिक छोटी बहू कमरे में खाना रख गई थी। यह बारी वाली व्यवस्था बड़े ढंग से चलती है इस घर में। एक महीना बड़ा बेटा खाना देता है, दूसरे महीने छोटा बेटा नीलाम्बर। कपड़ों की कोई विशेष व्यवस्था नहीं करनी पड़ती। दोनों बहुएँ अपनी फटी-पुरानी साड़ियाँ, ब्लाउज, पेटीकोट बगैरह देती रहती हैं।

...माँ जी को याद है जब भरे-पूरे परिवार में थीं। जिस दिन नई साड़ी पहनतीं, वह दिन किसी शुभ दिन की तरह होता था। नई साड़ी पहन कर सबसे पहले अम्मा जी को प्रणाम करतीं फिर दोनों जेठानियों को। कुछ नया-नया सा उत्सवी वातावरण जैसा लगता था उस दिन।

...नई साड़ी पहने तो वर्ष बीत गए। पुरानी साड़ियाँ पहनते-पहनते नई साड़ी पहनने की बात माँ जी एक तरह से भूल ही गई हैं। सोचती हैं कि नई क्या, पुरानी क्या। इस बुढ़ापे में जैसा पुराना-जर्जर शरीर, वैसा कपड़ा। क्या फर्क पड़ता है! शरीर भी तो पुराने वस्त्र जैसा ही हो चला है। अच्छी नई साड़ी फवेगी नहीं शरीर पर। लोग भी देखेंगे तो कहेंगे 'बूढ़ी घोड़ी लाल लगाम।'

पिछले साल बड़ी जिठानी की पोती की शादी में गाँव गई थीं तो नई साड़ी पहना कर बिदाई की गई थी। कितना अस्वाभाविक लगा था तब। वर्षों बाद गाँव गई थीं। दिल्ली लौटने का मन ही नहीं हो रहा था। डेढ़ महीने बीत गए थे वहाँ। समीर और नीलाम्बर की दो-दो चिट्ठियाँ पहुँच गई थीं। चिट्ठियों में एक ही बात थी, 'जल्दी लौट आओ माँ।' दोनों जेठानियाँ और आस-पड़ोस के लोग चिट्ठियाँ देख कर कहते थे, "आपके बिना बेटों की हालत खराब हो रही है। महीने दो महीने भी माँ के बिना नहीं रह सकते। परिवार वाले हैं, बाल-बच्चेदार हैं, फिर भी माँ के बिना काम नहीं चलता। महीना क्या बीता कि चिट्ठी आने लगी।" नीलाम्बर की चिट्ठी तो मन को छू जाती थी। लिखा था माँ, तुम्हारे लिए बच्चे रट लगाए हुए हैं। रोज पूछते हैं कि दादी माँ कब आएँगी। ...सिप्पी तुम्हारी गोद के लिए बेहाल बनी रहती है। बहू राह देखती रहती है। चिट्ठी पढ़ कर उनका मन भींग गया था। जेठ-जेठानियाँ और परिवार के लोग

चिड़ियाँ पढ़ते और भाग्य को सराहते। छोटी जिठानी कहतीं, “बड़े किस्मत वाली हो छोटी बहुरिया। बेटे, बहू-बच्चे सब तुम्हारे लिए पलकें बिछाए हुए हैं। लोग तो कहते हैं, जमाना बदल गया मगर तुमको देखकर लगता है कि यह सब झूठा प्रचार है।” छोटी जिठानी बड़ी जिठानी से कहने लगी थी, “देखा दिदिया छोटी बहुरिया के बिना सारा काम ही ठप्प पड़ा है बेटों का। बहुएँ राह देख रही हैं कि अब आती हैं अम्मा जी, अब आती हैं अम्मा जी।” बड़ी जिठानी कहतीं, “हाँ, बड़े भाग वाली है छोटी बहुरिया। दोनों बेटे दिल्ली में नौकरी करते हैं। दोनों बहुएँ भी सुनती हूँ खूब पढ़ी-लिखी हैं, सरकारी नौकरी में हैं और क्या चाहिए। एक ही दुख रह गया कि यह सुख देखने के लिए देवर जी नहीं रहे जब तक जिन्दा थे तब तक बच्चों को लिखाने-पढ़ाने में ही लगे रहे, ‘सुख करने’ के दिन आए तो चले गए।” छोटी जिठानी कहने लगी, “कोई क्या कर सकता था! कैंसर बीमारी ही ऐसी होती है। कोई बचता नहीं है।” बड़ी जिठानी बोली थी, “छोटी बहुरिया के लिए बस यही एक दुख रह गया है। बेटे-बहू चाहे जितना मान-सम्मान करें, अपने मरद की बात ही कुछ और होती है।”

गाँव में छोटी बहुरिया बनी माँ जी को अपनी दोनों जिठानियों की बातें कचोटने लगी थीं। मन के भीतर एक अरसे से जमा दुख पिघलने लगा था। आँखों से ढुलक आई आँसू की बूँदों को उन्होंने आँचल से पोंछ लिया था। उनकी समझ में नहीं आया कि वे पति के मृत्यु-प्रसंग को लेकर मन-ही-मन रो रही थीं या बेटों की उन चिड़ियों के कारण जिनमें उनको इतना गौरवान्वित किया गया है।

उनको लगा, बात चाहे कुछ भी हो, सारे दुखों की जड़ पति की मृत्यु ही है। वे अगर जीवित रहते तो घर में उनकी स्थिति क्या यही रहती?... माँ होकर वे क्या नियंत्रण रख पाईं जवान बेटों पर! समीर और नीलाम्बर ने अपनी मर्जी से शादी कर ली। समीर ने खैर बिरादरी की सीमा मानी भी, नीलाम्बर ने तो यह सीमा भी तोड़ दी। कोर्ट मैरिज कर छोटी जात की लड़की को घर ले आया। क्या कर सकती थीं वे? कोई वश तो रह नहीं गया था बेटों पर। वह तो अच्छा हुआ कि इनकी शादी से पहले नेहा की शादी कर दी गई थी। लड़का भी अच्छा मिल गया संयोग से। पटना वाले मँझले भैया की मदद न मिली होती तो पचास हजार रुपए तिलक में क्या ऐसा लड़का मिलता? लोग तो सत्तर-अस्सी हजार तक दे रहे थे तिलक। समीर और नीलाम्बर के भरोसे रहती तो नेहा अब तक कुंवारी पड़ी रहती। एल.आई.सी. और प्रोविडेंट फंड के रुपए तो दोनों बेटे कब के हजम कर गए होते। वह तो पटना वाले मँझले भैया थे कि गजेटेड अफसर से नेहा का रिश्ता कराया। दिल्ली आकर समीर के पापा के जहाँ-तहाँ बिखरे हुए रुपए-पैसों को दौड़-धूप के बाद एकत्र किया और बड़े ढंग से नेहा की शादी करा दी।

इसी कारण तो समीर और नीलाम्बर कितने दिनों तक मुँह फुलाए रहे। कहते रहे कि माँ को अपने बेटों पर ही विश्वास नहीं है। हाँ-हाँ, नहीं है विश्वास बेटों पर। तुम बेटे हो तो कहीं भी कर लोगे अपनी शादी। बेटी का क्या करूँगी मैं? जो सुधि लेने वाले थे वे तो चले गए। जिस पर विश्वास होगा मेरा मैं उसको बुलाऊँगी। लड़के की खोज के लिए कहते-कहते तो एक वर्ष निकल गया था। दोनों बेटों में कोई तो नहीं गया कहीं। नेहा बी.एस-सी. पास कर बैठी हुई थी। आगे पढ़ती होती तो सोचती कि चलो बेटी पढ़ रही है। आगे पढ़ाने का तो कोई साधन ही नहीं था। एल.आई.सी., प्रोविडेंट फंड आदि में जो रुपए थे, शादी के लिए ही कम पड़ रहे थे। उन रुपयों में हाथ लग जाते तो टूटते-टूटते एक ही वर्ष में गायब हो जाते। तब अपने मायके से दान में मिली वह चार एकड़ जमीन ही सहारा बनती जो जमीन बड़े भैया की देख-रेख में पड़ी हुई है। कितनी शर्म की बात होती! लोग कहते कि समीर के पापा परिवार को कंगाल बना कर मरे। बेटी की शादी आखिर माँ को मायके से दान में मिली जमीन बेचकर करनी पड़ी। मुँह दिखाने लायक रहती मैं?...

जब भी इज्जत-प्रतिष्ठा की कोई बात उठती है, माँ जी को हमेशा अपनी ससुराल और मायके की याद आती है। वे तो आज तक सोच ही नहीं पाई कि यह दिल्ली अपने समाज का कोई हिस्सा है। कोई भी बात होती है तो वे हमेशा यही सोचती हैं कि अपने गाँव के लोग क्या कहेंगे। मायका हो या ससुराल, गाँव माँ जी की स्मृति से जाता नहीं है। उनको स्वयं पर आश्चर्य होता है, इतने वर्ष बीत गए दिल्ली में, मगर दिल्ली उनके अपने समाज में शामिल क्यों नहीं हुई? और जो गाँव उनको अपना-सा लगता है उस गाँव में उनका बचा ही क्या है! हिस्से की जमीन पति बेच ही चुके थे। दो एकड़ जमीन उन्होंने अपने बड़े भैया को 'जेठोंस' में दे दी। गाँव में है ही क्या? बस सम्बन्ध रह गए हैं और रह गई हैं स्मृतियाँ।

पिछले साल गाँव में बीते सिर्फ दो महीने माँ जी की स्मृति को बार-बार झकझोरते रहते हैं।

...दोनों जिठानियाँ जब 'बड़े भाग्य' वाली छोटी बहुरिया की तारीफ करती थीं, छोटी बहुरिया को खुद पर हँसी आती थी।

बड़ी जिठानी कहतीं, "भगवान ने कैसे किस्मत बनाई छोटी बहुरिया, कि देश की राजधानी में रहती हो, अपना मकान है वहाँ। बेटे-बेटी सब पढ़-लिख गए। बहुएँ भी पढ़ी-लिखी मिलीं। एक छोटी जात की बहू ही सही, मगर है तो नौकरी करने वाली। तुम्हारे घर में तो पैसा बरसता है छोटी बहुरिया। कोई चिंता-फिकर नहीं। बर-बीमारी हुई तो झट से बड़े अस्पताल में दिखा लिया। यहाँ देहात में न डाक्टर न बैद। कुँहरती रहो बीमारी लेकर...।"

छोटी बहुरिया की सौभाग्य-चर्चा के बाद छोटी जिठानी भी अपनी तकदीर को

कोसने लगी थीं, “इधर हम लोग हैं गाँव-देहात के। तीन बेटे, मुदा एक ही बी. ए. पास कर सका। मुश्किल से किरानी बना शहर में। दूसरा खींच-खींच कर मैट्रिक पास हुआ। तीसरा मैट्रिक में ही लटक गया। बेटी भी बस मिडिल पास। बाहर रख कर पढ़ाने का खर्चा-पानी कहाँ से दें।”

माँ जी ने दोनों जिठानियों की बातें सुनी थीं और मन ही मन मुस्कराई थीं। दिल्ली में बड़े-बड़े अस्पताल? रहेंगे ही बड़े-बड़े अस्पताल। देश की राजधानी है न दिल्ली। लेकिन किसके लिए हैं ये अस्पताल? वे तो गठिया और पेट की बीमारी तो लेकर वर्षों से कुँहर रही हैं दिल्ली में। दोनों बेटों में से किसी के मन में नहीं आया कि ढंग से इलाज करा दें। जब बिछावन पकड़ लेती हैं, घर के काम-काज रुक जाते हैं, बहुएँ झाड़ू-बुहारू करने लगती हैं, बर्तन-बासन माँजने लगती हैं, तब बेटों को याद आता है कि माँ बीमार है। समीर और नीलाम्बर डाक्टर का पुराना पुर्जा पढ़ते हैं और अन्दाजा लगाते हैं कि कौन-सी दवा सबसे ज्यादा जरूरी है। वह जरूरी दवा खरीद कर दोनों बेटों में से कोई ले आता है। पड़ोस का फुटपाथी कम्पाउंडर दो या ज्यादा से ज्यादा तीन इंजेक्शन दे देता है और इतने-से इलाज से माँ को कुछ दिनों के लिए स्वस्थ हो जाना पड़ता है। यह इलाज भी बेटे इसलिए करा देते हैं कि माँ कम-से-कम घर के काम-काज करने लगे।

माँ जब कभी बिछावन पकड़ लेती हैं, पिछले वर्ष गाँव में बीते दिन उनको बहुत याद आने लगते हैं। स्टोर रूम में फोल्डिंग खाट पर पड़ी-पड़ी वे अपनी बड़ी जिठानी की दोनों बहुओं पर सोचती हैं। मलिया में लहसुन जला सरसों का तेल गर्म लेकर दोनों बहुएँ रोज रात में उनकी मालिश करने आती थीं। बगल में सोई बड़ी जिठानी हँसती हुई कहती थीं, “हमारे लिए तो बहुओं की यही सेवा बड़ा अस्पताल है छोटी बहुरिया। बेटों और बहुओं की सेवा ही हमें जिलाए हुए है।” देह की मालिश की आदत न होने कारण थोड़ी देर में माँ ऊब जाती थीं। दोनों बहुओं को वे बार-बार मना करतीं, “अब छोड़ दो बहू देह दुख गई।” बहुएँ लाख मना करने पर भी बीच में छोड़ती नहीं थीं। लालटेन की मद्धिम रोशनी में वे रोती रहतीं। बड़ी जिठानी की मँझली बहू ने एक दिन उनको रोते हुए देख लिया था, “आप रो रही हैं अम्मा जी !..रो क्यों रही हैं?” बगल में लेटी बड़ी जिठानी मँझली बहू से बोली थी, “ज्यादा दिन हो गए हैं। याद आती होगी बहू-बेटों की। अपने घर की बात ही कुछ और होती है बहू। घर का सुख कहीं और मिल सकता है भला?”

उसी दरम्यान समीर और नीलाम्बर की चिट्ठियों के साथ पटने से एक चिट्ठी नेहा की भी मिली थी। उनको आश्चर्य हो रहा था, बेटे-बेटी की चिट्ठियों का यह कैसा सिलसिला शुरू हो गया है। नेहा ने लिखा था कि कुछ महीने पटने में आकर रहो माँ। नेहा के साथ पटने में भी रही हैं माँ। कोई चार साल पहले जब नेहा को पहला प्रसव

हुआ था, वे पटना गई थीं। नेहा तो दिल्ली जाने नहीं दे रही थी। कहती थी, “यही रहो माँ! भैया के पास ही क्यों रहती हो? मैं बेटी हूँ तो क्या गैर हो गई?” दामाद भी बार-बार रह जाने का आग्रह कर रहे थे। नेहा ने दूर संचार विभाग में नौकरी पकड़ ली थी। घर में कोई था नहीं जो नवजात बच्ची की देख-भाल करता। नेहा परेशान थी और चाहती थी कि माँ कुछ दिन और रह जाय। उधर दामाद रिश्ते की एक विधवा बुआ को बुलाने के प्रयास में लगे हुए थे। बुआ के आने तक माँ को रोका जा रहा था। समीर और नीलाम्बर की चिड़ियाँ भी पहुँच रही थीं। दोनों नाराज थे कि माँ जहाँ जाती है वहीं अटक जाती है। वे सोचने लगी थीं, माँ क्या इतनी बड़ी जरूरत है बेटों के लिए, बेटी के लिए और बहुओं के लिए? यह तो गर्व करने की बात है कि उनके बिना बेटे-बेटी-बहू सब अधूरे हैं, सबको उनकी जरूरत है। सब उनकी राह देख रहे हैं...लेकिन गर्व होने की जगह उनको दुख क्यों होता है?

इसी के समानान्तर बहुत पहले की एक घटना उनको याद आ गई थी। नेहा तब गोद में ही थी। साल-डेढ़ साल की रही होगी। समीर ने स्कूल जाना शुरू ही किया था। नीलाम्बर के स्कूल जाने की उम्र नहीं हुई थी। गाँव वाले बड़े भैया ने अपने छोटे बेटे की शादी में बुलाया था। गाँव से आदमी भेजा था। वे पेशोपेश में थीं कि बच्चों को छोड़कर कैसे जाएँ। हफ्ते-दस दिनों की बात थी। समीर के पापा ने ही कहा था कि वे किसी तरह सँभाल लेंगे, तुम जाओ। मायके वाली बात थी। जब से दिल्ली आई थीं एक बार भी मायके नहीं जा सकी थीं। उमंग भी जोर मार रहा था कि माँ, बाबू जी, भाई-बहन सबसे मुलाकात हो जाएगी। पूरा गाँव ही बुला रहा हो जैसे। यहाँ दोनों बच्चे पापा के भरोसे छूट रहे थे। नेहा तो गोद में थी, साथ जाती ही। सवाल दोनों बच्चों का था। समीर के पापा कह रहे थे, ‘तुम निश्चिन्त होकर जाओ। पड़ोसी किस दिन के लिए हैं, इतना भी नहीं करेंगे? हफ्ते-दस दिन में जरूर लौट आना किसी के साथ।’ लेकिन मायके का नेह-छोह आसानी से छोड़ता है भला? चौदह दिन बीत गए थे। समीर के पापा का पत्र पहुँच गया था उस बीच, ‘क्या बात है, देर क्यों हो गई? समीर और नीलाम्बर राह देख रहे हैं। रोज पूछते हैं माँ कब आएगी।’

वे हड़बड़ा गई थीं सहसा। दूसरे दिन ही दिल्ली लौटने के लिए तैयार हो गई थीं। बड़े भैया खुद आए थे पहुँचाने।...

एक वह जरूरत थी समीर के पापा की जरूरत। उस समय भी समीर और नीलाम्बर के लिए ही उनकी जरूरत थी। कितना अन्तर है उस जरूरत में और समीर, नीलाम्बर और नेहा की चिड़ियों की इस जरूरत में! कितना अन्तर है! काम तो वही हैं माँ के। वही काम हैं जो तब करने थे समीर और नीलाम्बर के लिए। आज भी वही काम हैं, लेकिन प्रयोजन की दशा कितनी बदल गई है। सिर्फ बेटों की जरूरत को तो समझा जा सकता है, मगर बेटी भी बेटों से अलग कहाँ है? नेहा भी तो अपनी उसी

जरूरत के लिए बुला रही है कि माँ आ जाएगी तो बच्ची की देख-भाल करेगी, झाड़-बुहार करेगी और बर्तन-बासन माँज देगी। नेहा भी तो बहुओं की तरह ही सोचती है कि माँ आ जाएगी तो वह मुक्त निश्चिन्त होकर दफ्तर जाएगी, घूमेगी- फिरेगी।

...स्टोर रूम में फोल्डिंग खाट पर पड़े-पड़े कमर, पीठ और घुटनों का दर्द कुछ ज्यादा ही बढ़ गया महसूस होता है। वे चाहती हैं कि सोने के लिए चौकी या ऐसी ही कोई सख्त चीज रहे तो अधिक आराम मिलेगा। डाक्टर ने भी सख्त बिछावन पर सोने को कहा था, लेकिन चौकी बिछेगी तो जगह कम पड़ जाएगी। स्टोर रूम में बहुओं को आने-जाने में दिक्कत होगी। फिर कहेंगी किससे कि चौकी ला दो सोने के लिए? समय ने विचित्र-सा भय भर दिया है माँ के मन में। वे जाने क्यों अपने ही बेटों से कुछ कहने में, कुछ माँगने में डरने लगी हैं। समझ ही नहीं पाती कि ऐसा क्यों हो गया। साफ-साफ कुछ कहते या माँगते भय क्यों होता है? बहुओं से भी कुछ कहने की हिम्मत नहीं होती। ऐसा क्यों होता है?

गाँव में दोनों जेठानियाँ कहती हैं, दूसरी औरतें कहती हैं बड़े भाग्य हैं तेरे छोटी बहुरिया। लेकिन बड़े भाग्य की चादर से ढंके नासूर को कौन देख सकेगा। मायके में तो सौभाग्य-चर्चा के बीच यह बदनामी भी उन्हें सहनी पड़ी कि नीलाम्बर ने किसी छोटी जात की लड़की से शादी कर ली। मायके में सब यही पूछती रहीं कि कैसी है वह छोटी जात की बहू। कैसा रंग-ढंग है। चाल-व्यवहार कैसा है। कैसे फंस गया नीलाम्बर उस लड़की के जाल में।...वे क्या जवाब देतीं। यहाँ दिल्ली में तो क्या छोटी जात, क्या बड़ी जात। पढ़ी-लिखी सारी लड़कियाँ एक जैसी होती हैं। कोई अलग कर सकता है भला कि यह रही छोटी जात की लड़की और यह रही ऊँची जात की लड़की? बड़ी बहू तो है अपनी ही बिरादरी की, मगर अन्तर कहाँ है बड़ी में और छोटी में।

सिर्फ नौ-दस वर्षों में ही जिन्दगी कितनी बदल गई। माँ को लगता है, अपने ही बेटे पराए हो गए। माँ का तो अस्तित्व ही खो गया जैसे। अब तो वे मूक-सी हो गई हैं। किससे कहें, क्या कहें। वर्षों से अपनी-सी बनी यह पराई दिल्ली परिवार के रिश्ते को भी चुपचाप निगल गई। कैसे हो गया यह सब? देहाती मन और परम्परागत संस्कारों वाली माँ को यही दर्द सालता रहता है। समीर और नीलाम्बर ने तो खैर गाँव की जिन्दगी देखी ही नहीं। अपनी जगह वे ठीक रहे, मगर माँ सोचती है कि वे गाँव में पली-बढ़ीं। वह संस्कार भला जाने वाला है? कितना छोटा पड़ गया है यह फ्लैट। शुरू-शुरू में आई थीं तब यही फ्लैट कितना बड़ा लगता था। बड़ा ही नहीं, दिन में जब अकेली रह जाती थीं तो भयावह भी लगता था। दो बड़े-बड़े कमरे, किचन, बाथरूम, स्टोररूम और बड़ी-सी बाल्कनी। तब तो एक कमरा ही काफी पड़ता था। अब स्टोररूम ही उनका बेडरूम बन गया है वह भी पूरा नहीं, सिर्फ खाट भर जगह।

दोनों बेटों के कमरों में अलग-अलग टी.वी. सेट हैं, फ्रिज भी हैं दोनों के पास। समीर किसी नए फ्लैट के जोगाड़ में है। इस बावत उसने माँ से तो कुछ बताया नहीं है, लेकिन बड़ी पोती पिंकी कह रही थी एक दिन कि उसके पापा ने एक नया फ्लैट देखा है। अपनी मम्मी के साथ वह भी गई थी नया फ्लैट देखने। कहती थी कि यह जगह बहुत छोटी है, यहाँ दम घुटता है। ...माँ ने पिंकी की बातें सुनी थीं। समीर क्या कह नहीं सकता था कि वह यह जगह छोड़ना चाहता है? इतना रहस्यमय क्यों बन गया है?...

बड़ी पोती पिंकी ने पोस्टमैन द्वारा कमरे में फेंकी गई चिट्ठी अपनी दादी माँ के हाथ में थमा दी, 'लो दादी माँ तुम्हारी चिट्ठी। क्या नाम है जनकमणि देवी।...' अन्तर्देशीय पत्र हाथ में लेकर उन्होंने अपना नाम फिर पढ़ा जनकमणि देवी। अपना नाम पढ़ती हुई वे मुस्कराईं। मायके से बड़े भैया की चिट्ठी थी। छह-सात महीने के अन्दर बड़े भैया की यह तीसरी चिट्ठी है। कुशल समाचार के बाद लिखा है, 'अपनी अमानत लौटा लो बहन। मेरी जिन्दगी का कोई ठिकाना नहीं है। जीते-जी बाबू जी द्वारा दान में दी गई जमीन तुम्हें लौटा दूँ तो आत्मा को शान्ति मिलेगी। बेटों के ईमान-धरम का कोई भरोसा नहीं। ...पद्रह हजार रुपए एकड़ का रेट चल रहा है इलाके में जमीन बिक जाय, वही अच्छा। दिन समय ठीक नहीं रहा।'

मायके से दान में मिली चार एकड़ जमीन बेचने की चर्चा उन्होंने समीर से की। माँ का प्रस्ताव सुनकर समीर प्रफुल्लित हो बैठा, हाँ माँ, बेच ही डालो जमीन। बेमतलब पड़ी हुई है। एक छटाँक अन्न भी कभी नहीं मिला। कहीं तुम मर गई या बड़े मामा ही चल बसे तो जमीन हाथ से निकल जाएगी। जाओ, हो आओ मामा के गाँव। आज ही जाता हूँ रेलवे स्टेशन। रिजर्वेशन करा देता हूँ। समीर तो चाहता था कि नीलाम्बर को जमीन बेचने की बात मालूम न हो, लेकिन माँ ने नीलाम्बर से भी यह बात कही। माँ ने हँसते हुए कहा, 'तुम दोनों भाई बतिया लो आपस में। ऐसा न हो कि तुम दोनों अलग-अलग रिजर्वेशन टिकट ले आओ।' बहुओं को पता हो गया था कि माँ जी अपने मायके जा रही हैं जमीन बेचने। बारी-बारी से दोनों माँ जी के कमरे में आने लगी थीं।

समीर और नीलाम्बर माँ को रेलगाड़ी पर बिठाने स्टेशन गए थे। दोनों बहुएँ नीचे तक माँ जी को छोड़ने गई थीं। दोनों ने माँ जी के पैर छुए थे। रेलगाड़ी के वर्थ पर लेटी हुई माँ मन ही मन मुस्कराती रही थीं। मुस्कराते-मुस्कराते कई बार आँखों में आँसू आ गए थे। बेटे-बहू होने का नाटक करने की क्या जरूरत थी? क्या वे नहीं समझती हैं यह नाटक? लेकिन करें क्या। इस बुढ़ापे में जाएँगी भी तो कहाँ? आखिरी सहारा भी तो यही हैं।

अपने मायके में माँ ने एक महीने से कुछ ज्यादा दिन ही लगा दिए। उस बीच

समीर और नीलाम्बर की चिट्ठियाँ पहुँच गई थीं। चिट्ठियों में एक ही चिन्ता थी क्या बात है। देर क्यों हो गई? कहीं अस्वस्थ तो नहीं हो गई माँ? बच्चों के राह देखने और बहुओं की चिन्ता का भी यही पुराना राग था। आश्चर्य हुआ था माँ को जब पहली बार बड़ी बहू की चिट्ठी मिली थी। बड़े भैया, चचेरे भाई-भतीजे, बहुएँ आदि माँ के बड़े भाग्य का बखान करने लगे थे। बड़ी भाभी कहने लगी थीं, 'कितना ख्याल रखते हैं बहू-बेटे। पोते-पोतियाँ भी दादी के बिना एक पल नहीं रह सकते।' माँ प्रशंसा की स्वीकार-मुद्रा में मुस्कराती रही थीं।

छोटा भतीजा सुधीर पहुँचाने आया था दिल्ली तक। जमीन साठ हजार रुपए में बिकी थी। बड़े भैया ने बैंकड्राफ्ट बनवा दिया था। बहन की अमानत लौटाकर बड़े भैया चिन्तामुक्त और प्रसन्न थे। विदा करते समय वे बार-बार यही कहते थे कि यदि यह अमानत न लौटाई गई होती और वे कहीं इसी बीच मर जाते तो नरक में भी जगह न मिलती। बेटों के ईमान-धरम का क्या ठिकाना।

छोटे भतीजे के साथ माँ दिल्ली लौट आई थीं। बेटे और बहुओं का व्यवहार एकदम बदल गया था इस बीच। माँ को लगता ही नहीं था कि वही बहू-बेटे हैं। यात्रा में ठंड लग जाने के कारण गठिया के दर्द ने माँ को फिर से दबोच लिया था। उठने-बैठने में दिक्कत होने लगी थी। रात में बाथरूम जाते समय उनके कराहने की आवाज सुनकर बड़ी बहू बाहर निकल आई थी। और सहारा देकर बाथरूम तक ले गई थी। समीर भी बहू के पीछे-पीछे आया था, "क्या बात है माँ?" माँ ने कहा था, "कुछ नहीं, वही पुराना रोग। यात्रा में ठण्ड लग गई शायद।" बड़ी बहू सहारा देकर उनकी खाट तक ले गई थी। पायताने बैठकर उनकी कमर दबाने लगी थी, तब माँ जी के मन में आया था जोर से हँसें। लेकिन हँसी के बजाय उनकी आँखों में आँसू आ गए थे। पहली बार बहू उनकी सेवा कर रही थी। दरवाजे के सामने समीर देर तक खड़ा रहा।

दूसरे दिन सबेरे नीलाम्बर आया था हाल-चाल पूछने। उसको जब मालूम हुआ था कि माँ गठिया की बीमारी से परेशान है तो उसने कहा था कि आज ही वह माँ को बड़े डाक्टर के पास ले जाएगा। दिल्ली में डॉक्टरों की क्या कमी है। सबेरे छोटी बहू नाश्ता लेकर अपनी माँ जी के सामने खड़ी थी। खाट के पास छोटी-सी मेज भी रख दी गई थी। मेज पर एक गिलास गर्म दूध रखा हुआ था।

रात में खाना देने की बारी हालाँकि छोटी बहू की थी, लेकिन बड़ी बहू खीर, परांठे, सब्जी, भुजियाँ, अचार, तिलौरी, पापड़ वगैरह बड़ी-सी थाली में परोसकर ले आई थी और खाट पर बैठी माँ जी से खाने का आग्रह कर रही थी। छोटी बहू ने झाँक कर देख लिया था, उसके चेहरे से ही माँ जी को लगा था, वह कुढ़ रही है। ऐसा लजीज खाना माँ जी को याद नहीं, इस घर में कब देखा था। उनको अपनी अम्मा जी

का कहा किस्सा सहसा याद आ गया था जिस किस्से में गरीब से अमीर बन गई बेटी गहनों से लदी अपने मायके आई थी। माँ और उसकी भाभियाँ उसको घेर कर बैठी हुई थीं। अनेक प्रकार के पकवानों और व्यंजनों से भरी थाली बेटी के आगे रखी हुई थी। माँ और भाभियाँ खाने का आग्रह कर रही थीं। बेटी अपने शरीर से एक-एक गहना उतारती थी और थाली से छुआ कर गहनों से कहती थी, “झुमका-खाओ, नथुनी खाओ, खाओ रे मुदरीका....” किस्से की उसी बेटी की तरह माँ जी भी सोच रही थीं। मन में आता था कि सूटकेस से साठ हजार रुपए का बैंकड्राफ्ट निकालें। अम्मा जी के किस्से की वह बेटी तो अमीर हो गई थी। माँ जी ने अपनी बाबत सोचा कि यह अमीरी तो बैंकड्राफ्ट के भुनने तक है।

दूसरे दिन जब दोनों बेटे माँ को डाक्टर के पास ले जाने की जिद कर रहे थे, माँ ने एक ही जिद पकड़ रखी थी। रुँधे हुए गले से वे कह रही थीं, “मुझे बैंक ले चलो। तुम दोनों को बराबर-बराबर रुपए बाँट दूँ पहले। ज्यादा दिन माँ का पद झेल नहीं पाऊँगी बेटे! मुझे दाई माँ ही रहने दो।” कहकर वे फूट-फूट कर रोने लगीं।

छोटू दिबेन

आजकल वह हलवाई की दुकान पर काम करता है। हलवाई-कम चायवाला! यहाँ काम भी ज्यादा है। लाला सुबह चार बजे उठा देता है। उठकर वह बिना हाथ-मुँह धोए ही सबसे पहले भट्टी साफ करता है। उसकी सारी राख बाहर निकालता है। राख में से अधजले कोयले बीन-बीन कर अलग करता है। बाकी बची सारी राख उठाकर बाहर सड़क के किनारे कूड़े के ढेर पर डाल कर आता है। दुकान में झाड़ू-बुहारी करता है। मेज-कुर्सियाँ साफ करता है। तब तक पेट में दर्द होने लगता है तो भाग कर निबट कर आता है। हाथ-मुँह धोकर कुल्ला करता है। इसी बीच छोटा लाला आ जाता है। वह भट्टी सुलगाता है। उसके लिए उपले, मिट्टी के तेल की शीशी और कोयले का टोकरा वह पहले ही बाहर निकालकर रख देता है।

भट्टी सुलग जाने पर लाला अपने लिए चाय बनाता है, उसे भी चाय मिल जाती है।

धीरे-धीरे दुकान पर चाय पीने वाले ग्राहकों का ताँता लग जाता है। वह दौड़-दौड़ कर उन्हें चाय देकर आता है। जूठे बर्तनों को उठा-उठा कर पानी की टूटी के पास जमा करता है फिर बैठ कर उन्हें धोता है। धुले हुए बर्तन लाला के पास ले जाकर रखता है। सुबह-सुबह के दो-ढाई घन्टे तो उसे बिल्कुल फुर्सत नहीं मिलती। मशीन की तरह इधर से उधर, उधर से इधर दौड़ लगाता रहता है कभी बर्तन उठा कर ला तो कभी चाय देकर आ तो कभी गिलास धोकर ला।

उनकी दुकान के सामने ही एक अखबार वाला अपना स्टाल लगाकर बैठता है, हर सुबह! उसके वहाँ रहने तक स्टाल पर भीड़ रहती है तब उसकी दुकान पर भी भीड़ कम नहीं होती।

अखबार वाला बहुत अच्छा आदमी। कभी-कभी उसे पढ़ने के लिए अखबार भी देता है पर उसे अखबार पढ़ने की फुर्सत ही कहाँ मिलती है? सारे दिन तो दुकान पर मशीन की तरह खटता रहता है। नौकर तो यहाँ और भी हैं पर चाय के काम पर वह अकेला ही है।

अखबार पढ़ने को उसका मन तो खूब करता है। कभी-कभी आते-जाते वह

एक आध लाइन पर निगाह भी मार लेता है, पर इससे क्या होता है? बात तो वही रहती है जो है। एक दिन उसने पढ़ा था ‘सरकार गरीब बच्चों को पढ़ाने के लिए हर जिले में एक नवोदय स्कूल खोलेगी। इन स्कूलों में पढ़ाई और खाने-पीने का सारा खर्च भी सरकार उठाएगी।’

उस दिन उसे बहुत अच्छा लगा था। दुकान का काम भी उसने खूब मन लगा कर किया था। यह खबर उसके दिल में आशा की एक किरण रोप गई थी। उस दिन उसने निश्चय कर लिया था जैसे ही कोई नवोदय स्कूल खुल जाएगा वह उसमें दाखिल हो जाएगा, खर्च तो सारा सरकार ने उठाना ही है।

उसके पास अंग्रेजी पढ़ने की, ए बी सी डी की एक किताब है जो उसने अपनी दरी में छिपा कर रखी है। जब वह सोने जाता है दुकान की छत पर तब उस किताब को चन्दा की चाँदनी में पढ़ता है। खूब मजा आता है पर अँधेरी रातों में वह पढ़ नहीं पाता।

अब तो उसके पास एक पेंसिल का टुकड़ा भी है। एक दिन एक बाबू दुकान पर चाय पीने आया था उसीने दिया था, “ले इसे रख, इससे कुछ लिखा कर।”

वह बहुत खुश हुआ था।...बहुत खुश! कितनी ही देर तक पेंसिल को हाथ में लिए खड़ा रहा था। उसे खूब दबा-दबा कर उलट-पुलट कर, टटोल-टटोल कर देखा था और फिर चुपचाप जेब में रख लिया था। लाला देख लेता तो छिन लेता। एक बार उसने सड़क पर पड़ा हुआ एक पैन पाया था वह तब भी बहुत खुश हुआ था। लाला ने देखा तो छिन लिया, “ला इधर! तू क्या करेगा? चल बर्तन धो।”

उसे बहुत बुरा लगा था। आँखों में आँसू भर आए थे। करता क्या? चुपचाप बर्तन धोने चला गया था। यह लाला भी न जाने अपने को क्या समझता है? सारे दिन डॉटता रहता है, गालियाँ निकालता रहता है। कभी उसे एक मिनट को भी खाली बैठा देख लेगा तभी चिल्लाने लगेगा, “अबे वहाँ बैठा क्या कर रहा है, मादर्च...? इधर आ! चल बर्तन धो कर ला!...मेजों पर कपड़ा लगा।”

सारा दिन बे-मतलब पागलों की तरह चिल्लाता रहता है। अब तो वह उसके सामने खाली बैठता ही नहीं है। जरा सुस्ताना भी हो तो ऐसी जगह छिप कर बैठता है जहाँ उसे दिखाई न दे।

उसे कोई कोरा कागज दिखाई दे जाता है तो वह उसे उठा लेता है और समेट कर जेब में रख लेता है। जब भी खाली समय होता है उस पर लिख-लिख कर देखता है। उसका बड़ा मन करता है कि बाजार से एक कापी-पैन, पेंसिल खरीद कर लाए पर लाला उसे नकद पैसा-धेली देता ही नहीं है। हर महीने उसकी सारी तनखा उसके बाप को ही देता है। बाप तो हर महीने यहाँ आता ही तनखा लेने है। सचमुच उसे तो यह भी नहीं मालूम है कि उसे तनखा मिलती कितनी है?

माँ उसे बहुत प्यार करती है। बाप तो शराबी है। शराब पीकर माँ को मारता है। खूब लफड़ा करता है। बच्चों को भी मारता है। जब वह घर था उसे भी मारा करता था।

शराब पीकर आदमी पागल हो जाता है। वह भी पागल हो जाता है। लाला की दुकान पर एक कलैण्डर टंगा हुआ है। उस पर लिखा है शराब जहर है। उस पर जो तस्वीर बनी है उसमें एक आदमी का कंकाल, हाथ में शराब की बोतल लिए खड़ा है। ऐसा डरावना लगता है देखने में जैसे कोई भूत खड़ा हो। उस कंकाल के पास ही धरती पर कई खोपड़ियाँ पड़ी हुई हैं। जब उसने पहली बार यह कलैण्डर देखा था तब ऐसा लगा था जैसे यह भूत जैसा आदमी उसका बाप ही है और बाकी उसके भाई-बहनों की। तब उसने अपने सिर पर हाथ फिरा कर देखा था और उसे तसल्ली हो गई थी कि पास पड़ी खोपड़ी सचमुच उसी की है।

जब वह गाँव में था और स्कूल में पढ़ता था बापू उसे नौकरी कराने के लिए शहर लाना चाहता था। तब माँ और बापू में रोज लड़ाई होती थी कई बार तो बापू ने माँ की खूब पिटाई भी की थी।

“स्साले को लफटैन बनाएगी पढ़ा कर।” वह चीख-चीख कर कहता था, “वो कालिया का लड़का कितना पढ़ा है! शहर के स्कूल से दर्जा-दस पास किया है। उसे अभी तक कहीं कोई नौकरी-हिल्ला मिला क्या?”

माँ चुपचाप बैठी रोती रहती। आँसू बहाती रहती। वह चीखता रहता, “अरी बोल! अब बोलती क्यों नहीं? सब बकवास की बातें हैं पढ़ाई-लिखाई। कोई नौकरी नहीं देता। पुलिस-फौज में भर्ती का भी पैसा माँगते हैं।” वह हॉफता जाता और कहता जाता, “पहले पढ़ाई के लिए पैसा लगाओ, फिर नौकरी के लिए पैसा लाओ। कालिया का लड़का अब शहर में रिक्शा चलाता है। ना पढ़ा होता तो भी रिक्शा ही चलाता। ...पढ़कर क्या हुआ?”

आखिर माँ ही हार गई। बापू जीत गया।...और वह यहाँ आ गया, शहर में, लाला की दुकान पर। यहाँ उसका मन नहीं लगता घर याद आता है, गाँव याद आता है, स्कूल याद आता है। स्कूल के दिन याद आते हैं। एक बार बड़े साहब स्कूल में मुआयना करने आए थे उन्होंने क्लास के लड़कों से सवाल पूछे थे। उसी ने सब सवालों के जवाब दिए थे। साहब उससे बहुत खुश हुए थे। उन्होंने इनाम में उसे एक पेंसिल भी दी थी। मास्टर जी भी बहुत खुश हुए थे उन्होंने भी उसे इनाम दिया था। वह भी उस दिन बहुत खुश हुआ था, बहुत खुश!

बापू जब उसका नाम कटाने स्कूल गया था तब मास्टर जी ने कहा था “यह तुम क्या कर रहे हो, गंगा राम? बड़ा होनहार लड़का है। इसे पढ़ने दो, यह एक दिन जरूर तुम्हारा नाम रोशन करेगा।”

गाँव के यार-दोस्त याद आते हैं नन्दू बहुत याद आता है, बिरजू भी याद आता है। हुक्मे का सन्ते भी याद आता है बड़े अच्छे दोस्त थे उसके। छुट्टी होते ही सब पोचार पर भाग आते थे और वहाँ बजाते थे बिन्ती-डंडा! बड़ा मजा आता था!...कितने मजे के दिन थे वे भी! तीज-तिव्वार को माँ जरूर कुछ ना कुछ मीठा बनाती थी। कैसी भी गरीबी रही हो घर में, माँ ने हर तिव्वार को कम-से-कम खीर तो जरूर ही रान्ध दी। यहाँ तो हलवाई की दुकान पर रहते हुए भी क्या मजाल कि कभी एक रसगुल्ले का स्वाद भी चखा हो!

पिछली दिवाली पर उसका घर जाने का बड़ा मन था। छुट्टी नहीं मिली। दिवाली पर काम-धन्धा ज्यादा हो जाता है लाला बड़ी दुकान लगाता है। वह चाहता था कि घर जाए, माँ के हाथ के गुलगुले खाए हुए बड़े दिन हो गए हैं अब तो खाने को बहुत जी करता है। बड़ा मजा आता था जब माँ गुलगुले बनाया करती थी। वह खाता भी खूब था और जेबों में भरकर भी बाहर खेलने भाग जाता था। छोटे भाई-बहन भी खूब याद आते हैं। उनके साथ गूदड़ में लिपट कर सोने को बहुत जी करता है।

नन्दू, बिरजू के साथ बिन्ती-डंडा खेलने को भी बहुत जी करता है।

यहाँ तो दिवाली के दिन रात के बारह-एक बजे तक लाला ने काम में लगाए रखा था। इधर-उधर भी नहीं देखने दिया। सड़क की तरफ तो मुँह भी नहीं करने दिया।

वह सीन आज भी उसके जिगर में ताजा घाव की तरह रिसता है जब बापू उसे पहले-पहल बाहर लेके आ रहा था और माँ ओटड़े में बैठी बिसुर-बिसुर कर रो रही थी, “...बच्चे को हम से दूर मत ले जाओ। इस का पढ़ने में मन है तो पढ़ लेने दो। इस की तो दो रोटी भी खुराक नहीं है। घर पर ये किसी को क्या सताता है?”

पर बापू तो अपनी जिद पर अड़ा था, “स्साले को लफटैन बनाएगी!...अरी कुछ काम करेगा तो घर में रुपिया-धेली तो आएगा ही।”

उस दिन उसने भी पक्का निश्चय कर लिया था ‘एक ना एक दिन वह लफटैन बनकर जरूर दिखाएगा।’

जब वह शहर आया और लाला की दुकान पर काम शुरू किया तो शुरू-शुरू में पहले तो उसे बहुत अटपटा लगा बात-बात में रोना आता था। आँखों से झर-झर आँसू टपकने लगते थे। हर आदमी अजनबी लगता था। किसी से बात करने की उसकी हिम्मत नहीं होती थी। अब तो वह यहाँ सब लोगों को जान-पहचान गया है। सब उसे छोटू कहकर बुलाते हैं वैसे उसका नाम छोटू नहीं है। उसका नाम तो बिरू है बिरेंद्र सिंह!

अब लोग भी उससे एक आध बात कर लेते हैं। वह भी उनसे एक आध बात कर लेता है।

एक दिन अखबार वाले से उसने पूछा था, “बाऊ जी, लफ्टैन क्या होता है?”
उन्होंने प्यार से हँसकर उसकी पीठ पर हाथ रखकर पूछा था, “लफ्टैन?” तू
क्या करेगा पूछ कर?”

“मैं लफ्टैन बनूँगा।” उसने निश्चयात्मक स्वर में कहा था।

“शाब्बाश!” उन्होंने उसकी कमर पर हाथ मारकर कहा था, “दिल में हिम्मत
रखेगा तो एक दिन जरूर लफ्टैन बनेगा। लफ्टैन ना भी बना तो कुछ ना कुछ तो जरूर
बनेगा। अपने बाप की तरह रिक्शा नहीं चलाएगा।” कहते-कहते उनकी आँखों में
नमी उतर आई थी, “पुत्र मुझे देख। मैं भी बचपन में एक दुकान में झाड़ू लगाया
करता था। तब मेरा नाम भी छोटू ही था। हिम्मत थी, लगन थी तो आज उत्तम चन्द्र
शर्मा बन गया हूँ। नहीं तो मैं भी सारी उम्र छोटू ही रहता।”

उस दिन से वह भी उन्हें शर्मा जी ही कहता है। सुबह-सुबह जब शर्मा जी आते
हैं तब वह उन्हें गुड मॉर्निंग करता है “शर्मा जी गुड मॉर्निंग।”

“हैलो! गुड मॉर्निंग!...गुड मॉर्निंग!” शर्मा जी खुश होकर कहते हैं।

यह सब उसे शर्मा जी ने ही सिखाया है। उन्होंने उसे ‘थैंक-यू’ कहना भी
सिखाया है। अब तो उसे बहुत अंग्रेजी आ गई है। एलिफैन्ट के मायने हाथी, डौग के
मायने कुत्ता, काऊ के मायने गाय, गर्ल के मायने लड़की...और अपने से बड़े सभी
आदमियों को अंकल कहते हैं यह भी सीख गया है।

उसके पास जो अंग्रेजी सीखने की किताब है, वह उसे शर्मा जी ने ही दी थी।
उसी किताब को वह सोने वाली दरी में छिपाकर रखता है। इतने दिन हो गए हैं आज
तक किताब के बारे में लाला को हवा तक नहीं लगने दी नहीं तो स्साला फाड़ कर
भट्टी में जला देता।

एक दिन उसका लाला शर्मा जी से कह रहा था, “यार सरमा, तू तो इस छोटू
को लफ्टैन बना कर ही छोड़ेगा।”

शर्मा जी ने कोई जवाब नहीं दिया था, बस एक बार मुस्कुरा दिए थे और फिर
अपने काम में लग गए थे।

पिछले दिनों उसके पेट पर गर्म चाय का एक गिलास पलट गया था। सारा पेट
जल गया था छाले पड़ गए थे। वह बहुत रोया था,...बहुत रोया था! लाला ने तब
भी उसे घर जाने की छुट्टी नहीं दी थी। लाला समझता है छोटू एक बार घर चला गया
तो वापस नहीं आएगा। वह ये नहीं समझता कि जब तक उसका बापू जिन्दा है उसे
वापस तो लौटना ही पड़ेगा। नहीं तो वह उसे और उसकी माँ को, दोनों को मार-मार
कर भूसा बना देगा। घर में रहना है तो बापू से बैर कैसा? बापू तो कलैण्डर वाला भूत
है शराब की बोतल हाथ में आते ही सब को जहन्नुम में पहुँचा देगा।...पर लाला तो
यह बात समझता नहीं है ना!

अब तो उसे एक ही उम्मीद है जब भी वह घर जाएगा, माँ उसे छाती से चिपका लेगी और फिर घण्टों चिपकाए रखेगी। छोटे भाई बहन, उसे देखते ही उसके पाँवों से लिपट जाएँगे और फिर रात में उसके साथ गूदड़ में लिपट कर सोएँगे।

गाँव में नन्दू और सन्ते मिलेंगे तो उसे अपने साथ पोखर पर ले जाएँगे। वहाँ सारे यार-दोस्तों की भीड़ इकट्ठी हो जाएगी। वो सब उससे शहर की बातें सुनाने की जिद करेंगे।...पर वो उन्हें शहर की कौन सी बात सुनाएगा, यही कि वह एक लाला की दुकान पर झूठे बर्तन धोता है, लाला उसे सारे दिन गालियाँ बकता रहता है। नहीं, नहीं! वह उन्हें शर्मा जी की बात सुनाएगा शर्मा जी बहुत अच्छे हैं, अच्छी-अच्छी किताबें हैं उनके पास, वो उसे भी किताबें पढ़ने को देते हैं। उन्होंने उसे अंग्रेजी बोलना सिखाया है हैलो! गुड मोरनिंग!...जब वह अंग्रेजी बोलेंगा सब बिटर-बिटर उसका मुँह ताकेंगे।...पर ये सब तो...छुट्टी मिलेगी ही, तभी सही।

उसके पेट पर लाला ने डिस्पैन्सरी से पट्टी करा दी थी। बड़ा दर्द होता था। बहुत ज्यादा! रोना आ जाता था। काश! आज वह माँ के पास होता तो उसे एक मिनट के लिए भी अपनी छाती से अलग ना करती।

उन दिनों, लाला ने उसकी चाय की ड्यूटी बन्द कर दी थी। वह दुकान के बाहर बैठा अपना पेट सहलाता रहता था और यही कुछ सोचता रहता था माँ होती तो कितना प्यार करती!!

सड़क पर आते-जाते लोगों को देखता था। जब वह नीली-हरी निक्कर पहने, टाई लगाए बच्चों को स्कूल जाते देखता था तो उसके दिल में भी एक हूक-सी उठती थी। ऐसा लगता था नन्दू और सन्ते भी स्कूल जा रहे होंगे। थोड़ी देर बाद ही मास्टर जी पराथना कराने लगेंगे तुम ही हो माता, पिता तुम्हीं हो...! सारी पराथना याद है उसे। वह पराथना वाले लड़कों के साथ खड़ा होकर पराथना बोला करता था स्कूल में। नन्दू और सन्ते को भी सारी पराथना याद है।

‘लगता है एक बार तो लफ्टैन बनकर दिखाना ही पड़ेगा।’ उसने बैठे-बैठे ही अंगड़ाई ली और तेजी से बर्तन धोने लगा।

“अबे छोटू, ओ छोटू!” लाला चीख रहा था, “स्साले में यही तो बीमारी है! अब पता नहीं कहाँ मर गया!”

उसने धुले हुए गिलास एक छींके में भरे और भागकर काउन्टर पर आ गया।

“अबे बर्तन धो रहा था, अक सोरा था?” लाला गुस्सा दिखाते हुए बोला, ‘जहाँ जाएगा, वहीं सो जाएगा! चल अन्दर चाय देकर आ!’

उसका बदन दुख रहा था और आँखों में नींद भरी हुई थी। सारे दिन की भागम-भाग में शरीर थक तो जाता ही है। दिन में यदि दस-पाँच मिनट का भी आराम ना मिले तो ऐसा लगने लगता है जैसे शरीर में कोई बीमारी हो गई हो। अपने गाँव

में तो दिन छिपते ही रोटी-टूक खा लेते थे और आठ-नौ बजे तक सो भी जाते थे। यहाँ तो आठ-नौ बजे तक खाना नहीं मिलता। कई बार तो दस-दस बज जाते हैं।

उसे भूख भी लगी हुई है। पेट पर हाथ फिरा कर उसने महसूस किया।

एक मेज पर गर्म-गर्म समोसों की प्लेटें रखी देख कर उसकी भूख और तेज हो गई! वह समोसा खाते आदमी को एकटक ताकने लगा।...चम्मच से प्लेट में रखा समोसा काटना, उसे चटनी में लिपटा कर, चम्मच में भरकर, मुँह तक ले जाना, और फिर मुँह से आने वाली चप्-चप् की आवाज उसके शरीर में एक अजीब-सी हरकत पैदा कर रही थी। पता नहीं कब तक वह ऐसे ही खड़ा उस आदमी को और समोसे की प्लेट को घूरता रहता यदि छोटा लाला उसका कान पकड़ कर दुकान से बाहर न ले जाता।

“स्साले! तुझे कितनी बार समझाया है कि कोई ग्राहक कुछ खा रहा हो तो उसे इस तरह मत घूरा कर!” कहकर उसने उसके कान को जोर से उमेठ दिया था और झूठे बर्तनों के ढेर के पास लाकर छोड़ दिया था।

दर्द के मारे वह बिलबिला गया। उसकी आँखों में आँसू आ गए। कान में जोर की टीस अभी भी उठ रही थी। पानी की टूटी पर बैठा वह बर्तन धो रहा था। कान के दर्द के आगे भूख का दर्द भूल कर वह बीच-बीच में अपना सुर्ख और सूजा हुआ कान सहला लेता था।

‘लगता है इस स्साले लाला को भी लफटैन बनकर दिखाना ही पड़ेगा।’ वह सोच रहा था और झूठे बर्तन धो रहा था। बीच-बीच में, कभी-कभी खाली पेट पर भी हाथ फिरा लेता था।

लटकी हुई शर्त

प्रह्लाद चन्द्र दास

गंगाराम, गंगाराम, नंगाराम, नंगाराम।

दुबला-पतला सींक-सा लड़का गंगाराम और पीछे-पीछे चिढ़ाती हुई उद्दंड लड़कों की टोली गंगाराम, गंगाराम...अच्छे-खासे नाम की ऐसी की तैसी कर दी थी बदमाशों ने। गंगाराम इक्के-दुक्के लड़कों के साथ विरोध करता, कभी-कभार लड़ भी जाता, लेकिन जब लड़कों की पूरी टोली ही उसके पीछे पड़ गई हो, वह क्या करता? वह रोता, खीझता और अन्त में भाग जाता। लड़के जोर-जोर से चिल्लाने लगते भाग गया गंगाराम, भाग गया नंगाराम।...गंगाराम अपनी बेबसी पर रोता। क्रोध से उसके नथूने फूल जाते, पर...

पर, समय भी कैसे पलटा खाता है! वही गंगाराम आज इलाके का प्रसिद्ध गंगा बाबू हैं और अभी जब 'कुल्ही-पटान' में उसके बाल-बच्चे घोड़े दौड़ाते हुए सरपट निकल जाते हैं तो उसके गंगाराम, नंगाराम वाले साथी उजबक-से उनके पीछे उड़ती हुई धूल को देखते रह जाते हैं!

वही गंगाराम आज जय-जयराम हो गया है। अर्थात् उसे देखकर लोगों के हाथ उठ जाते हैं जयराम जी की, जयराम जी की...

गंगाराम की सफेद मूँछों के अन्दर ढँके मुँह में मंद-मंद हँसी बिखरती रहती है।

तब, आदमी बचपन में अलग होता है, जवानी में अलग और बुढ़ापे में अलग। और बचपन का तो बाद की जिन्दगी से क्या मेल? खास कर गंगाराम जैसे लोगों का?? लेकिन है। और किसी का न हो, गंगाराम का है।

बात जिस इलाके की है वहाँ 15-20 घर ठाकुरों के और डेढ़ सौ घर, सरकारी भाषा में, कमजोर वर्गों के, ठेठ भाषा में पासी, दुसाध, चमार और अहीर आदि के। अलबत्ता, सभी एक दूसरे-से आवश्यक दूरियों पर। और जैसा कि होता आया है पन्द्रह-बीस घर ठाकुर इलाके के सिर-मौर, बाकी सब दुम हिलाते हुए पीछे-पीछे।

गंगाराम इन्हीं में से एक गरीब दुसाध का लड़का था। गंगाराम के बचपन में सिर्फ दुसाध भर कह देना काफी था, किसी विशेषण की जरूरत नहीं थी वैसे हरिजन

शब्द का भी इस्तेमाल किया जा सकता था लेकिन इससे एक तरह के बड़े वर्ग का बोध होता है, जातिगत विशेषता का पता नहीं चलता। जाने-अनजाने में किस तरह सरकार ने एक वर्ग-चेतना (?) का बीज बो दिया है। है न?

लेकिन सरकार का क्या है! दुसाध को लड़की की शादी करनी है तो दुसाध ही खोजेगा। चमार को लड़की की शादी करनी है तो चमार ही खोजेगा। फिर यह हरिजन-हरिजन करने से इन बारीकियों को पता कैसे चलेगा?

खैर, सरकार की बात दूसरी है, गाँव-घर की बात दूसरी।

तो, गंगाराम इन्हीं में से एक गरीब दुसाध का लड़का था कमजोर और दुबला-पतला, जैसा कि मैं ऊपर कह आया हूँ। जितना कमजोर और दुबला-पतला, वह था, खाना उतना ही अधिक खाता था। लोग कहते हैं उसका पेट है कि पाताल, पता ही नहीं चलता। और जो इतना खाता, वह जाता कहाँ है? अपने घर में तो 'भूँजी-भांड' नहीं, इसलिए अपने घर की बात क्या करना; लेकिन जब ठाकुरों के घर किसी 'क्रिया-करम' में वह खाने को बैठता देखने वाले देखते ही रह जाते! और रामकिसुन बाबू की बेटी की शादी में तो कमाल ही हो गया।

शादी हो चुकी थी। भोज चल रहा था। गंगाराम जिस पंगत में बैठा था उसके अगल-बगल और पंगतें थीं। लेकिन धीरे-धीरे सारी पंगतें उठ गईं। गंगाराम की पंगत वालों ने थोड़ी देर गंगाराम के 'हाथ बारने' का इन्तजार किया लेकिन गंगाराम था कि खाए जा रहा था। हार-पार वे भी उठ गए।

काना-फूसी होने लगी "कौन खा रहा है?"

"गंगाराम!"

"किसका लड़का है?"

"अरे, गाँव के एक दुसाध का लड़का है।"

फिर लोग जोर-जोर से पूछने लगे 'कौन खा रहा है!' कौतूहल से सभी उसे देख रहे थे।

ताज्जुब की बात! उतनी व्यस्तता में भी रामकिसुन बाबू ने जब यह बात सुनी तो अपने को रोक न सके। उसी के सामने एक कुर्सी डलवाकर बैठ गए। बोले "गंगाराम, तुम डरो मत। खाए जाओ।" फिर परोसने वाले को बुलाया और कहा "तुम भी यहीं रुक जाओ और गंगाराम जैसे-तैसे खाते जाता है, तुम देते जाओ।" गंगाराम ने कृतज्ञतापूर्वक एक बार रामकिसुन बाबू को देखा और फिर खाने में जुट गया था। ऐसा खाना बरस-दो-बरस में भी तो नसीब नहीं होता है।

उधर अस्तबल में गंगाराम का बाप, हरखू चमार के साथ घोड़ों के लिए सानी-पानी कर रहा था। बात वहाँ तक भी पहुँच गई। बाप बेचारा तो शर्म से कट गया। उसने हरखू से कहा "हरखू, जरा जा के उस हरामजादे को उठा लावो तो

भाई। पूरा गाँव तो उस 'पेटू' को जानता ही है, बाहर के इन बारातियों के सामने भी मेरी नाक कटा रहा है।'

हरखू एक अच्छे दोस्त की भाँति हाथ-मुँह धो कर भोज-स्थल पर गया। करीब-करीब सभी लोग खड़े होकर गंगाराम का यह तमाशा देख रहे थे। शर्म हरखू को भी लग गई। 'साला, पूरी गरीब बिरादरी की नाक कटा रहा है। ऐसा तो नहीं कि आज ठूसकर खा लेने के बाद कल से भूख ही नहीं लगेगी?' सामने रामकिसुन बाबू को बैठा हुआ देखा तो एक बार ठिठका। लेकिन बात बर्दाश्त से बाहर होने लगी थी। लोग जोर-जोर से हँसने लगे थे। वह लपक कर गया और खप से गंगाराम का दाहिना हाथ ही पकड़ लिया। एक कौर मुँह में, एक कौर हाथ में। गंगाराम अचकचा गया।

रामकिसुन बाबू के मनोरंजन में बाधा पड़ी। फिर भी वे बिगड़े नहीं। शायद अपनी लड़की की शादी थी इसलिए। हँसकर बोले जाओ, अब खावोगे भी कैसे। चमार ने तो छू दिया। गंगाराम ने भी इसे महसूस किया वह तो ऊँची जात का है। उसने धीरे से कौर पत्तल पर रखा और उठने लगा। यहाँ भी हँसी। उससे उठा ही नहीं जा रहा था। हरखू ने तो पकड़ ही लिया था उसी ने तौल कर उठाया।

“क्यों पिल पड़ते हो इस तरह खाने पर।”

बाद में हरखू ने उसे समझाने की कोशिश की थी “यह ठीक है कि हम लोग देवताओं की तरह धूप की सुगंध और फूल की खुशबू सूँघकर नहीं रह सकते। हमें भरपेट भात चाहिए ही चाहिए। लेकिन क्या इस तरह जलील होकर? यह भी ठीक है कि हमें बढ़िया खाना नसीब नहीं होता और बाबू लोगों के यहाँ किसी अवसर पर ही ऐसा खाना मिलता है, लेकिन...”

गंगाराम ने बात काट दी थी। कहा था “काका, मैं सिर्फ पेट भरने के लिए नहीं खाता। मैं खा-खा कर इतना मोटा, इतना ताकतवर हो जाना चाहता हूँ कि मुझे जो लड़के रात-दिन चिढ़ाते रहते हैं गंगाराम-नंगाराम कहके मैं अकेले उन सबों को सबक सीखा सकूँ।”

हँस पड़ा था हरखू। कहा था “ठीक है, लेकिन वह ताकत एक बार पेट ठूसकर खा लेने से नहीं आती है। उसके लिए तो रोज-रोज भरपेट खाना मिलना चाहिए।...”

और रोज-रोज भरपेट भोजन का इन्तजाम कर लिया था गंगाराम ने!

वह दिन और यह दिन!!

ठाकुर रामकिसुन के अस्तबल में घोड़ों को सानी-पानी खिलाता था उसका बाप। आज खुद वह एक अस्तबल का मालिक है। भोजन देख कर पेट भरने के लिए टूट पड़ने वाला गंगाराम खुद कितने लोगों का पेट भरता है! दस-कट्टे में फैला हुआ

उसका मकान। परिजनों-कुटुम्बों से गहगहाता हुआ उसका परिवार। कभी-कभी गंगाराम अपनी छत पर टहलता हुआ विगत इतिहास की तरह पूरे इलाके को देखता जाता है। देखता जाता है और सोचता जाता है। सोचता जाता है किस तरह 'लक्ष्मी' ठाकुरों की बस्ती से सरकती हुई धीरे-धीरे उसके पास आती गई। आन-बान और शान में जीने वाले ठाकुर किस तरह आन-बान और शान में ही खोखले होते गए और...।

और वह मन ही मन सिर झुकाता है उस हरखू काका के प्रति, जिसने उसे उस दिन हाथ पकड़ कर भोज पर से उठा लिया था। और समझ में आने के बाद उसे दूर-दूर तक लोगों की हँसी अपना पीछा करती हुई लगी थी। यह पेट! हाँ यह पेट ही सारे अनर्थों की जड़ है। पहले इसी का जुगाड़। उसकी दृष्टि गई थी अपने हाथों पर बहुत छोटे थे उसके हाथ! उसने अपने पिताजी के हाथों की ओर देखा था। वे रामकिसुन बाबू के अस्तबल में, सानी-पानी में फँसे थे। और सानी-पानी करते हुए उसके पिता एक दिन चल बसे थे। मरते-मरते वे अपने 'पितृ-धर्म' का पालन जरूर कर गए थे गंगाराम की शादी करा गए थे। गंगाराम ने अपना पेट काट-काट कर किसी तरह बेटे को पढ़ाया-लिखाया। कभी-कभी गंगाराम को हरखू काका की तरह गाँधी बाबा को भी प्रणाम कर लेने का मन करता है, क्योंकि पढ़ने-लिखने के तुरन्त बाद 'मुनुआ' की नौकरी लग गई बैंक में। मुनुआ ने बाद में समझाया था कि गाँधी बाबा ने ऐसी व्यवस्था कर दी है कि दुसाध, चमार, पासी आदि छोटी जात के लड़कों को, पढ़ने के तुरन्त बाद नौकरी लग जाती है। अभी दूसरा बेटा शिवचरण बताता है कि ऐसा अम्बेदकर नाम के एक आदमी के कारण हुआ था। लेकिन किसी के भी कारण हुआ हो जैसे-जैसे उसके बेटे बड़े होते गए, दनादन नौकरी में लगते गए। मुनुआ बैंक में, शिवचरण पुलिस में, हरिचरण ब्लॉक ऑफिस में...।

और गंगाराम अपने बड़े होते हुए हाथों की ओर हर्ष के साथ देख रहा था। हरखू काका तब भी जीवित थे और समय-समय पर आते रहते थे। उन्होंने समझाया था 'बेटा, ऐसा नसीब किसी-किसी का होता है। किसी को धन मिलता है तो जन नहीं, किसी को जन मिलता है तो धन नहीं। तुम्हारे पास अभी 'धन-जन' दोनों हैं। थोड़ा 'बुद्धि विवेक' से काम लेना। धन से मतिभ्रम भी होता है। बाबुओं की तरह 'कुचलन' से बचना।'

बाबुओं का कुचलन। गंगाराम को हँसी आती है। बाबुओं में 'कुचलन' नहीं होता तो क्या गंगाराम, गंगाराम होता? वह वही गंगाराम, गंगाराम नहीं रहता?

बाबुओं में आन-बान और शान के अलावे एक और 'कुचलन' था लड़कियों का शौक। घर में सुन्दर-सुशील पत्नियों के रहते, पता नहीं कहाँ-कहाँ से बाबू लोग, कैसी-कैसी लड़कियाँ उठा लाते थे! एक 'औरत' से संतुष्ट रह जाए वह 'क्षत्रिय'

कैसा? क्षात्रधर्म और मर्दानगी की यह एक नई परिभाषा थी उनके सामने। और यही परिभाषा ले डूबी उन्हें। ये दूसरी-तीसरी औरतें लाई ही जाती थीं तफरीह के लिए। ये पान खातीं, शराब पीतीं और तरह-तरह की फरमाइशें करतीं। बाबू लोग इनके पीछे धीरे-धीरे चुकते जाते। हालाँकि इन औरतों में भी किसी-किसी ने इतिहास बना दिया और अपनी निष्ठा और कर्तव्य-परायणता के लिए आज भी इलाके में याद की जाती हैं लेकिन इनकी तादाद बहुत कम थी। अधिकों ने बाबुओं को लूटा और चल पड़ीं। हालाँकि कुछ को बाबुओं ने वाद में पेशे में डलवा दिया कुछ आमदनी...

लेकिन डूबते को तिनका सिर्फ कहावत में सहारा दे सकता है। और उन्हीं क्षणों में बाबुओं के यहाँ की लक्ष्मी गंगाराम के हाथों सरकने लगी थी। बड़े-बड़े मौकों पर काम दिया गंगाराम ने, बाबुओं के। तीनों कमाऊपूतों के पैसे एक जगह इकट्ठे हो रहे थे। उनका इससे बढ़िया उपयोग क्या हो सकता था। लेकिन पैसे क्या यों ही दिए जाते हैं? गंगाराम ने तो पहले हाथ जोड़ दिए थे, “मैं एक अदना-सा आदमी! क्या मुँह लेकर आपके दरवाजे पर ‘पैसे’ वसूल करने आऊँगा?”

दरवाजे पर के बाबू को ताव आ गया था “मैं न उधार माँगने आया हूँ, न भीख माँगने। इतनी सम्पत्ति पड़ी है मेरी। ले लो एक।” कहा न, आन, बान, शान और बस, एक, दो, तीन...गिनती का तो कोई अन्त नहीं है न। फिर बाबू भी बढ़ते गए एक, दो, तीन...और उधर गंगाराम गड़ियाँ गिन रहा था एक, दो, तीन...

इसी बीच एक दिन हरखू काका फिर आ धमके थे! जी हाँ, इस बार ‘आ धमके’ थे। आए तो थे वे ‘नेउता’ लेकर। इस बार रामकिसुन बाबू की पोती की शादी हो रही थी। लेकिन हरखू काका ने ‘नेउता’ क्या दिया था नेउता के बहाने धमकी दिया था। कहा था “गंगाराम मैंने इसी दिन के लिए तुम्हें सचेत किया था।”

“हुआ क्या काका।”

“होगा क्या खाक? मैंने अभी-अभी शिवचरण को दुखहरण बाबू की लड़की के साथ खलिहान में देखा।...ये बुराइयाँ आती ही हैं धन के साथ इसीलिए...”

“पर काका बाबुओं ने एक समय हमारी बहू-बेटियों के साथ भी...”

“नहीं गंगाराम, बदला नहीं। और बदला भी...तो इस तरह से तो बिल्कुल नहीं।”

गंगाराम मायूस हो गया था।

बात आगे बढ़ाई थी हरखू काका ने “ताकत है तो एक प्रतिकार करो।”

“कैसे?”

“रामकिसुन बाबू की बेटे की शादी वाली वो घटना याद है तुम्हें?”

गंगाराम का काला चेहरा भी सुर्ख होता हुआ नजर आया।

“मैं उस घटना की याद तुम्हें छोटा करने के लिए नहीं दिलाना चाहता हूँ। वो

तो तुम्हारे बचपन की बात है। मैंने तुम्हें भोज पर से हाथ पकड़ कर उठाया था लेकिन तुम पत्तल हाथ में लेकर ही उठे थे, याद है?”

गंगाराम ने स्वीकृति से सिर हिलाया।

“और आज भी वही नियम चल रहा है। जब हम उनके यहाँ नौकर होते हैं तब की बात नहीं करता तब तो हम खाते हैं, अपना जूठन आप साफ करते हैं और हमें मलाल नहीं होता। लेकिन जब भोज में ‘नेउत’ कर ले जाया जाता है तब भी? और जब हम बाबुओं को नेउता देते हैं तो हमें ‘सूखा’ पहुँचाना पड़ता है। वे हमारे यहाँ बैठकर नहीं खाते। और जो हम सूखा देते हैं, पता नहीं, उसको भी वे खाते हैं, या नौकर-चाकरों को दे देते हैं। इसके बारे में कभी सोचा है तुमने? समर्थ हुए तो जाति की इस दीवार को तोड़ो या फिर ऊँची जाति के होने के उनके दंभ को।”

कहते हुए हरखू काका नीचे उतर गए थे। गंगाराम सोचता रह गया था

धमाका हुआ था इस बार इलाके में। रामकिसुन बाबू की पोती की शादी! शादी में कोई भी ‘इतर’ जात खाने नहीं जायगा। रामकिसुन बाबू अभी जीवित थे। सुना तो सन्न रह गए आखिर क्यों?

गंगाराम ने ऐसा कहलवा भेजा है!

रामकिसुन बाबू ने अपना विशेष विश्वास-पात्र गंगाराम के पास भेजा “मेरी ही पोती की शादी पर ऐसी प्रतिज्ञा क्यों?”

“यह सिर्फ संयोग की बात है कि आपकी पोती की शादी है। और हम खाने से कहाँ इनकार करते हैं? बस शर्त यही है कि खाने के बाद हम अपना पत्तल नहीं उठाएँगे। ‘नेउत’ कर ले जाते हैं तो समुचित सम्मान दीजिए। और यह सम्मान अगर आपने दिया तो सबने दिया क्योंकि आप तो गाँव के सिरमौर हैं।”

यह बात भी सुननी थी वह भी गंगाराम के मुँह से? गंगाराम रखता है शर्त। जिसका बाप रामकिसुन बाबू के अस्तबल में घोड़ों को नहलाते-धुलाते, सानी-पानी करते मर गया! समय सचमुच बड़ा बलवान है! गंगाराम एक धनी ‘दुसाध’ हो गया है अब। अब उसे सम्मान चाहिए।

“नहीं। यह नहीं होगा।” रामकिसुन बाबू चिल्लाए थे “जाकर गंगाराम से कह दो वह अपनी औकात पहचाने।”

कहने की जरूरत नहीं थी। अपनी औकात पहचानने लगा था गंगाराम। उसने पूरे इलाके में मुनादी करवाई शादी के दिन सबों का भोजन मेरे यहाँ।

तनाव बढ़ गया था। खेमेबन्दी होने लगी। गंगाराम को यह देखकर सुखद आश्चर्य हुआ कि ‘सम्मान’ पाने के लिए सभी ‘इतर’ लालायित थे, जो उसके छत्र तले आ खड़े हुए थे। गंगाराम अचानक अपने को बहुत ताकतवर आदमी समझने लगा।

रामकिसुन बाबू उसके सामने बौना लगने लगे थे ।

ठीक शादी के दिन बहुत बड़े भोज का आयोजन हुआ । ‘गाँव की बेटी की शादी’ में दुसाध-चमार सबों ने जाकर रामकिसुन बाबू के यहाँ काम किया जरूर पर खाया नहीं किसीने । खाना खाया समानान्तर भोज में गंगाराम के यहाँ । उस भोज से, हरखू काका, जब खाने के बाद जाने लगे तो गंगाराम ने रोक लिया “मुझे तुम्हारे पैर छू लेने दो काका । अगर तुम न होते...”

हरखू काका बूढ़े हो चले थे । आँखें भी धुँधली हो चली थीं । लेकिन उन धुँधली आँखों में भी जो चमक आई और गई उससे निहाल हो गया गंगाराम ।

आज हरखू काका नहीं हैं । लेकिन उनकी तजबीज ने कितनी ताकत दी गंगाराम को, कैसा ‘अहसास’ दिलाया इलाके वालों को, इसे कभी भूल पाएगा गंगाराम?

गंगाराम ने हरखू काका के उस ऋण को भी अच्छी तरह चुकाया है उनके नाम से एक स्कूल खोल कर हरखू राम हाई स्कूल!

क्या होगी इससे बेहतर श्रद्धांजलि? क्या होगा बेहतर पैसे का उपयोग? ताकि वहाँ से निकले मुनुआ और निकले हरिचरण और निकले शिवचरण और और-और बने गंगाराम!

वह दिन और यह दिन!

गंगाराम की शर्त जहाँ की तहाँ लटकी हुई है । कितनी शादियाँ बाबुओं के यहाँ हुईं, कितनी शादियाँ ‘इतरों’ के यहाँ हुईं, लेकिन न इन्होंने उनके यहाँ खाया न उन्होंने इनके यहाँ । पहले तो ‘सूखा’ भी चला करता था, अब तो वह भी बन्द हो गया है ।

गंगाराम अलबत्ता, बाबुओं की मदद ही करता है दरी, पैट्रोमेक्स आदि-आदि ऐसे अवसरों पर काम आने वाली चीजें देकर । कभी-कभी अपनी दोनों बन्दूकें भी दे देता है शादी-ब्याह में बाबुओं के दरवाजे पर गोली छोड़ने का रिवाज चलाए रखने के लिए । अगर बन्दूक चलाने वाला कोई न हुआ तो अपने बेटों अथवा पोतों को भेज देता है । लेकिन खाना? ना बाबा! खाने की वही शर्त । मंजूर है तो कहो, आते हैं ।

कौन करेगा मंजूर? एक कोइरिन थी, रानी बन गई तो बैंगन को टैंगन ही कहने लगी ।

गंगाराम ने पूरे इलाके को बर्बाद (?) कर दिया । कितने मेल-जोल से, भाई-चारे के साथ (!) रहते थे लोग! गंगाराम की सफेद मूँछें फड़फड़ाने लगती हैं ।

कबूतर, कछुआ, अजगर और लाल-बत्ती क्षेत्र विनोद मिश्र

यह शहर का रेड लाइट एरिया है लाल बत्ती क्षेत्र। सालों से यह लाल बत्ती क्षेत्र इस शहर में मौजूद है। शहर की दिनचर्या के समानांतर इसने अपनी एक अलग दिनचर्या विकसित कर ली है शहर के विरोध और अपनी छोटी हैसियत के बावजूद। जब समूचा शहर नींद के आगोश में डूबने की तैयारी कर रहा होता है तब लाल बत्ती क्षेत्र नींद की खुमारी तोड़कर जगता है, जब समूचा शहर नींद के आगोश में डूब गया होता है तब लाल बत्ती क्षेत्र जोर से ठहाके लगाकर खिलखिलाता है और जब समूचा शहर आँखें मीजता हुआ उठता है तब लाल-बत्ती क्षेत्र नींद की नीम बेहोशी में डूब जाता है।

प्रशासन की निगाह में लाल-बत्ती क्षेत्र शहर का सबसे अशांत और बदनाम इलाका है लेकिन जानने वाले जानते हैं कि समूचा शहर जब आन्दोलनों की चपेट में रहता है, लाल-बत्ती क्षेत्र अपने आप में मस्त और व्यस्त रहता है। समूचे शहर में जब सांप्रदायिक दंगे हो रहे होते हैं तब लाल-बत्ती क्षेत्र में कोई किसी से न जाति पूछता है, न धर्म। समूचे शहर में जब मारपीठ और गुंडागर्दी का आलम रहता है तब भी इस क्षेत्र में लोग एक दूसरे से गुफ्तगू करते हैं, कानाफूसी करते हैं, हँसते हैं और खिलखिलाते हैं।

रोज की तरह आज भी वे तीनों वहीं खड़ी हैं। दगडू की चाय-गुमटी के करीब। दगडू बूढ़ा है लेकिन जवानी के दिनों से ही इस लाल-बत्ती क्षेत्र में है। दगडू की दोनों टांगें दुर्घटना में कट गई थीं ऐसा वह कहता है लेकिन जानने वाले जानते हैं कि गाँव-देहात की भोली और गरीब घरों की लड़कियों को शहरों के कबूतरी खाब दिखलाकर लाल-बत्ती क्षेत्र तक पहुँचाने के कारोबार में किसी ने दगडू की दोनों टांगों को घुटने के ऊपर से काट दिया था, तब से इस गुमटी में वह चाय बेचने का धंधा करता आ रहा है। फिसलती हुई या लगभग फिसल गई उम्र के बावजूद दगडू गुमटी पर बैठा ललचाई नजरों से उन तीनों को रोज देखता है। उसकी कटी हुई टांगों को लेकर वे यदा-कदा दगडू से हँसी-ठिठोली करती हैं तो उसके अन्दर एक अजीब सी झुरझुरी पैदा हो जाती है। यही झुरझुरी घंटों तक दगडू को बहलाए रखती है।

उन तीनों में जो सबसे गोरी और खूबसूरत दिखाई पड़ रही है उसका नाम है प्रेमा। तीखे नाक-नक्श और सांवले रंग की जो दूसरी लड़की है उसे यहाँ चम्पा के नाम से जाना जाता है। तीसरी लड़की दरअसल लड़की नहीं औरत है। भरे शरीर और सीधे-सपाट चेहरे वाली इस औरत का नाम कजरी है। प्रेमा, चम्पा और कजरी इनके वास्तविक नाम नहीं हैं। लाल-बत्ती क्षेत्र अपने अन्दर आने वाली हर नस्ल का चाहे वह औरत हो या आदमी, जाति और धर्म ही नहीं नाम भी बदल देता है।

वे दगडू की गुमटी में आकर बेंच पर बैठ गईं। कजरी इस धंधे में नई-नई आई है। तमाम तरह के रंग-रोगन पुते होने के बावजूद उसका चेहरा मुरझाया हुआ है बासी फूल की बन्द पंखुड़ियों की तरह गुमसुम और उदास।

‘क्या बात है, कजरी, आज बहुत उदास लग रही हो?’ प्रेमा पूछ बैठी।

‘नहीं तो!’ और कजरी ने हँसने की कोशिश की लेकिन इस कोशिश में उसके चेहरे पर अवसाद की गहरी रेखाएँ खिंच आईं। कुछ नहीं बोल सकी कजरी। वैसी ही बैठी रही चुप। पुतलियों के बीच स्थिर पिता का चेहरा एक धुन्ध में तब्दील हो गया और आँखों पर कुहासे की एक झीनी-सी परत चढ़ आई।

‘घर की याद आ रही है!’ चम्पा ने भी पूछा।

आँखों पर चढ़ आई कुहासे की परत गहरी होती गई। उसे लगा कि आँखों के सामने कुहासे की इस मोटी परत के सिवाय कुछ भी नहीं है। धीरे धीरे वह अपने आप में सिमटने लगी। मन के अन्दर उतरती रही सीढ़ियाँ-दर-सीढ़ियाँ।

कजरी को देखकर प्रेमा और चम्पा भी उदास हो गईं। वर्तमान का खिंचा हुआ पर्दा दूर तक सरक गया था और अतीत की तल्लू किन्तु सुकूनदेह यादें झिलमिलाने लगी थीं। बहुत देर तक प्रेमा, चम्पा और कजरी वैसी ही बैठी रहीं उदास, अकेली और चुप।

दगडू ने चाय के तीन प्याले उनके सामने रख दिए। चाय की चुस्कियाँ लेते हुए भी वे अपने आप में खोई रहीं। उदास कजरी के कन्धे पर हाथ रखकर प्रेमा उसे समझाने लगी उदास मत हो कजरी बाई...इस धंधे में राजी-खुशी से कोई थोड़े आता है। सबके अपने-अपने दुःख हैं...अपना-अपना संताप है...किसी का कम...किसी का ज्यादा...पर है सबके पास...तू अकेली थोड़ेई है कजरी बाई...। अच्छा चलो, हम अपना दुःख एक दूसरे से बाँट लें...शायद कुछ कम हो जाय...।

प्रेमा बताने लगी हम कस्बे में रहते थे। मैं, अम्मा और बाऊ। घर के नाम पर एक छोटी सीलन भरी झोपड़ी ही थी हमारे पास। झोपड़ी के बीच में एक छोटा सा आँगन। रसोई से लेकर खाना-पीना, उठना-बैठाना, सोना-जागना सब कुछ दस फुट के दायरे में ही होता था। बाऊ कस्बे में मजदूरी करते थे। दिन चढ़ते ही फरसा-कुदाल लेकर निकल जाते। गलियों में चिल्ला-चिल्लाकर काम माँगते और सांझ ढलने के पहले

घर आ जाते थे। अम्मा भी कस्बे के तीन घरों में झाड़ू-पोंछा और बर्तन धोने का काम करती थी सुबह-शाम। हर घर से दस रुपए महीने की बँधी-बँधाई कमाई थी। अम्मा मुँह अँधेरे ही निकल जाती और दोपहर बाद वापस लौटती थी।

हमारा घर कस्बे के बिल्कुल निचले हिस्से में था। कस्बे के ऊपरी हिस्से में कई ऊँचे-ऊँचे मकान थे जो दिन निकलने के बाद काफी देर तक सूरज को भी अपनी ओट में ही रखते थे। दिन निकलने का हमें पता ही नहीं लगता। अलबत्ता, ढलते सूरज की बीमार रोशनी हम रोज देखते थे।

घर के पिछवाड़े बाऊ ने एक पेड़ लगाया था। नाम मुझे नहीं पता। वे उस पेड़ की खूब सेवा करते। समय-समय पर कटाई-छँटाई करते। गोबर-खाद डालते। रोज सुबह-शाम उसे पानी देते। कस्बे के आवारा जानवरों से बचाने के लिए पेड़ के चारों ओर बाऊ ने कंटीले तारों का घेरा खींच दिया था। वे रोज सुबह पेड़ की लम्बाई नापते और घोषणा करते कि बहुत जल्द ही इसकी शाखें फैल जाएँगी...नरम मुलायम पत्तियों से भर जाएगा पेड़...तब इस पेड़ की फुनगियों पर हम सूरज की पहली किरण का उजाला देखेंगे।

अम्मा-बाऊ काम पर चले जाते तो मैं घर में अकेली रह जाती। एक दिन पेड़ पर एक कबूतर आया झक्क सफेद...रेशमी पंख, जैसे धरती का न होकर देवलोक का कोई परिन्दा हो। वह एकटक मुझे देखता रहा...मुझे भी इसकी नन्हीं-नन्हीं बोलती हुई आँखें अच्छी लगीं। बहुत देर तक हम एक दूसरे को देखते रहे।

वह रोज आता और अम्मा के घर आने के पहले ही उड़ जाता था। एक दिन उसने मुझे अपने साथ चलने के लिए कहा मैं तुम्हें हवा में उड़ाऊँगा, आसमान की सैर कराऊँगा और दिखाऊँगा कि पतझड़ के मौसम में भी कहाँ छुप जाता है बसन्त। गरमी के दिनों में भी कहाँ टहलते रहते हैं बादलों के झुंड और जाड़े के मौसम में कहाँ दुबकी रहती है आँच...चलो, जल्दी चलो। मैं हिचकिचाई बाऊ, अम्मा सबको छोड़कर...। उसने अपने पंख फड़फड़ाए जल्दी करो, एकदफे मैं उड़ा तो फिर वापस नहीं आऊँगा। मैंने उसकी आँखों में देखा वहाँ मेरा ही अक्स था और मैं उड़ गई उसके साथ। न जाने कहाँ-कहाँ उड़ती रही मैं...देखती रही ऊपर से कि नीचे जमीन पर चलते हुए बाऊ, अम्मा और पेड़ कितने बौने हैं...कितनी छोटी लगने लगी थी समूची दुनिया और मैं इस दुनिया के शीर्ष पर थी...सब कुछ एक मीठे सपने की तरह था...।

मेरी आँखें खुलीं तो मैं यहाँ लाल-बत्ती क्षेत्र के एक कमरे में थी। देवलोक का वह परिन्दा भी मेरे पास ही था लेकिन उसकी शक्ल-सूरत बदल गई थी। मैंने उससे कहा चलो, मैं अभी और उड़ना चाहती हूँ। उसका झक्क सफेद रंग काला पड़ गया और वह कुछ बोलने लगा। मैं कुछ भी नहीं समझ सकी। मुझे ताज्जुब हुआ कि उसकी बोली भी बदल गई थी।

फिर वह उड़ गया। उड़ते वक्त उसके गले में पड़ी सोने की चमकती हुई जंजीर को मैं दूर तक देखती रही।

प्रेमा चुप हो गई और चम्पा की ओर देखने लगी।

चम्पा ने बताना शुरू किया मैं माँ के साथ गाँव में रहती थी और बाबू कलकत्ते में रिक्शा गाड़ी खींचते थे। अपना पेट पालने के बाद महीने की कमाई से जो बचता उसे वे हमारे लिए भेज देते थे। गाँव में एक बहुत बड़ा मकान था हवेली जैसा। माँ हवेली वालों के खेत में काम करती थी। बदले में उसे रात की बासी रोटियाँ या चवन्नी-अठन्नी नगद पैसे मिल जाते थे। उस हवेली में एक अजगर रहता था। लम्बा-चौड़ा और तन्दुरुस्त। वह आदमियों की तरह चलता था, आदमियों की तरह हँसता-बोलता था और आदमियों की तरह ही खाता-पीता था। कभी-कभी तो वह आदमियों से भी अच्छा चल लेता था, आदमियों से भी बेहतर हँस-बोल लेता और आदमियों से अधिक खा-पी लिया करता था। गाँव वाले उसकी इस विशेषता के कायल थे।

गाँव के तीन चौथाई खेतों में वह अकेला टहलता-घूमता था। इच्छा होती तो दूसरे खेतों में भी चहलकदमी कर लेता न कोई रोकता न टोकता। सबके ऊपर उसके एहसान थे।

माँ की बीमारी में बाबू ने भी उससे पैसे लिए थे। पता नहीं कौन-सी बीमारी हो गई थी माँ को। हमें तो उस दिन पता चला जब सात साल बाद कलकत्ते से लौटकर बाबू पहली बार घर आए थे। दिन में तो माँ ठीक-ठाक रही। बाबू की खूब सेवा-टहल करती रही। महीनों के बाद माँ ने रसोई में भात चढ़ाया और महीनों बाद लकड़ी के धुएँ से रसोई की दीवारें कजराई थीं। महीनों बाद हमने एक साथ मिल बैठकर खाना खाया और महीनों बाद हमें महसूस हुआ कि खाने का एक स्वाद भी होता है। दुपहर भर ओसरे में बैठकर बाबू आने-जाने वालों को कलकत्ते में बिताई अपनी जिन्दगी का हाल सुनाते रहे और खटिया के सिरहाने बैठकर पंखा झलती हुई माँ बाबू की आँखों में बन्द न जाने किस चमक को देखती रही एकटक।

शाम को माँ ने बाबू द्वारा कलकत्ते से लाई चुनरी पहनी थी। बाबू मेरे लिए भी एक लट्टू और फ्राक ले आए थे।

उस रात मैं ओसरे में सोई हुई थी। माँ और बाबू घर के अन्दर आगन में सोए थे। मैं बेहद खुश थी। सोते वक्त भी पिता द्वारा लाया गया लट्टू मेरे हाथ में था। अचानक माँ के चीखने-चिल्लाने की आवाजें आने लगीं। चौंककर मैं उठ बैठी। आंगन में गई तो बाबू माँ को दोनों हाथों में पकड़े हुए थे और माँ लगातार चीखती जा रही थी नहीं, मत छुओ मुझे...मत आओ मेरे पास...जहर भर गया है मेरे पूरे शरीर में...न SS ही...न SSS हीं...मत छुओ मुझे...। बाबू ने माँ को खटिया पर गिरा दिया

और मारने लगे लेकिन माँ का चिल्लाना तब भी बन्द नहीं हुआ वह देखो अर्धरे में ही लटका है वह देखो...देखो...उसकी जीभ पर जहर है अभी फूँक देगा तो तुम मर जाओगे...जाओ...चले जाओ...मत छुओ मुझे...। और माँ रोने लगी।

माँ की चीख-चिल्लाहट सुनकर गाँव के लोग भी आ गए थे। किसी ने कहा कि उसका दिमाग फेल हो गया है, किसी ने कहा कि उस पर देवी आई हुई है...और सब अपने-अपने हिसाब से बाबू को इसका इलाज बताते रहे। काफी दिनों तक झाड़फूक चलती रही, पास-पवस्त के ढेर सारे ओझा-पंडित बुलाए गए लेकिन माँ को कुछ भी फायदा नहीं हुआ। माँ को इलाज के लिए शहर ले जाने की बात पैसे के सवाल पर कई दिन तक लटकती रही। फिर बाबू हवेली से पैसे ले आए थे।

शहर के इलाज के बावजूद माँ को बचाया नहीं जा सका।

माँ की मृत्यु के बाद मेरा हाथ पकड़कर बाबू मुझे हवेली ले गए थे। हवेली जाते वक्त मैंने काफी ना-नुकुर की लेकिन बाबू नहीं माने। कहने लगे कि हवेली वालों का हमारे ऊपर बहुत एहसान है। तुम्हारी माँ की बीमारी में लिए गए रुपए तो लौटाने ही होंगे। मैंने हवेली वालों से बात कर ली है साल भर हम दोनों वहाँ काम करेंगे बस। फिर रिन-कर्जा लेकर मैं तेरा ब्याह कर दूँगा। अपनी रोजी-रोटी की चिंता नहीं है मुझे।

मैं और बाबू हवेली में काम करने लगे। बाबू हवेली के बाहर खेतों में और मैं हवेली के अन्दर। हवेली में काम करते हुए बाबू ताड़ी पीने लगे थे। कभी घर लौटते और कभी हवेली में ही सो जाते थे। धीरे-धीरे वे मेरे प्रति उदासीन होते चले गए। पूरा दिन गुजर जाता और बाबू मुझे दिखाई तक नहीं पड़ते थे। माँ का दुख समझकर मैंने भी कुछ नहीं कहा।

हवेली में रहने वाला वह अजगर अक्सर मेरे आगे-पीछे घूमता, मुझे छेड़ता, पकड़ने-झपटने की कोशिश करता फिर भी मैं बचती-बचाती रही। लेकिन अधिक दिन तक नहीं...। जिस हवेली की चौखट पर बाबू सारी रात पहरा देते उसी चौखट के अन्दर तीसरी मंजिल के एक कमरे में तमाम विरोध और अनुरोध के बावजूद मैं अपने आपको उस अजगर की गिरफ्त से नहीं छुड़ा सकी। हवेली से बाहर निकलते हुए मैंने देखा, चौरा पेड़ के नीचे बाबू जमीन पर औंधे मुँह पड़े हुए थे।

सारी रात घर के अन्दर मैं उसे हवाओं में लटका हुआ देखती रही और सारी रात माँ का चेहरा मेरी आँखों के सामने टँगा रहा लेकिन माँ की तरह मैं न चीखी, न चिल्लाई। भोर के धुंधलके में गाँव-घर की देहरी लॉघकर भाग आई।

चम्पा चुप हो गई और कजरी की ओर देखने लगी।

कजरी बताने लगी मैं तो अभी तक नहीं समझ पाई कि मेरा घर कहाँ है। उस पिता का घर जिसने मुझे ब्याह देने की हड़बड़ी में आगे-पीछे कुछ भी नहीं देखा था। वह ससुराल जहाँ से चन्द सिक्कों के एवज में मैं निकाल दी गई, या वह ससुराल जहाँ

एक बूढ़े से मेरा दूसरा ब्याह मुझे वैधव्य की निशानी दे गया या यह लाल-बत्ती क्षेत्र जिसने तीसरी बार मुझे सुहागन देखने की पिता की इच्छा को पूरी तरह लीप दिया।

कहाँ से शुरू करूँ मैं अपनी कहानी? मैं तो कई जगह से शुरू हुई हूँ। अच्छा चलो, अन्त जब यहीं हुआ है तो कहीं से भी शुरू हो सकती हूँ मैं। पहले पति से तलाक के बाद मेरी दूसरी शादी में खास दिक्कत नहीं हुई थी। मेरे बूढ़े पति को औलाद चाहिए थी। औलाद उसकी चाहत थी और पत्नी उसकी जरूरत। किसी की 'चाहना' जब किसी की 'जरूरत' बन जाती है तो नाक-नक्श, चेहरे और दीगर चीजें बेमानी हो जाती हैं। एक बेमानी चीज की तरह उसने चार साल तक मुझे अपने साथ रखा लेकिन उसकी जरूरत नहीं पूरी होनी थी, सो नहीं हुई। औलाद के नाम पर स्वार्थी होने के बाबजूद वह स्वभाव का बहुत अच्छा था। उसने कभी मेरे साथ बुरा सुलूक नहीं किया। हमेशा अच्छे से पेश आता। ढंग से बोलता-बतियाता। हाट-बाजार घुमाता। सनीमा दिखता। वह मुझे उस बूढ़े पेड़ की तरह लगता जिसकी छाँव में बैठकर मैं पूरी तरह सुरक्षित थी लेकिन उसके नीचे की जमीन का पानी एक रोज सूख गया और वह बूढ़ा पेड़ बगैर किसी आँधी-तूफान के धड़ाम से गिर गया था।

कायदे से मेरी कहानी का यहीं अन्त हो जाना था। लेकिन मैं फिर 'शुरू' हुई तीसरी बार। इस शुरूआत के लिए मैं पिता से बहुत झगड़ी थी और शादी-ब्याह के इस तीसरे 'सुख' को भोगने से मैंने साफ इन्कार कर दिया था, लेकिन पिता आखिर पिता थे। उनकी 'इच्छा' मेरी 'अनिच्छा' पर भारी पड़ गई। वे मुझे लेकर दूसरे शहर चले गए।

पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के हिसाब से एक रोज वह मुझे देखने आया अकेले। चाय का प्याला लेकर मैं उसके सामने गई। थोड़ी देर तक खड़ी रही ताकि वह मुझे पूरी तरह देख ले फिर लौट आई। लौटते वक्त मैंने उसे देखा। उसकी गर्दन के निचले हिस्से में मुझे एक गोल सी परत नजर आई। मैंने गौर से देखा बीच-बीच में गर्दन के ऊपरी हिस्से को वह शरीर के अन्दर डाल लेता था।

चाय पीने के बाद काफी देर तक वह पिताजी से बोलता-बतियाता रहा। पिताजी ने उसे सिर्फ पहली शादी के बारे में बताया, दूसरी शादी की बात वे छिपा गए। पहली शादी के बारे में भी उन्होंने काफी कुछ झूठ बोला। झूठ बोलते वक्त वे बार-बार हकलाने लगते और माथे पर पसीने की बूँदें छलछला उठतीं लेकिन उन्हें तसल्ली हुई और अच्छा भी लगा कि सामने बैठे इस आदमी ने आँख, कान, नाक, मुँह और सिर सब कुछ शरीर के अन्दर धसा लिया है।

मेरा ब्याह 'हो' गया। वह मुझे अपने घर ले आया। उस दिन दो कमरों के उस घर में कई बार मैंने उसे देखने की कोशिश की, उसका रंग-रूप पहचानने की कोशिश की लेकिन कुछ नहीं जान पाई।

रात जब वह मेरे पास आया तो मैंने उसे फिर पहचानने की कोशिश की। मैं उसे छू-छूकर देख रही थी। अचानक मेरा हाथ उसकी गर्दन के पास पहुँच गया उसकी गर्दन के ऊपर का हिस्सा उठा हुआ था। मैंने महसूस किया कि यह कोई और 'आदमी' है। मैं छिटक कर खड़ी हो गई। उसने मुझे विस्तर पर खींचने की कोशिश की तो मैं चिल्लाने लगी।

तभी 'वह' आया और अँधेरे में खड़ा हो गया।

तुम चिल्लाई क्यों?

यह आदमी...

क्या हुआ?

यह दूसरा आदमी...

मैं जोर-जोर से चिल्लाने लगी।

'वह' मेरे नजदीक आया मुझे तुम्हारे बारे में सब पता है। यह भी कि यह तुम्हारी तीसरी शादी है। यह भी कि इसके पहले तुम एक बूढ़े के साथ चार साल रह चुकी हो।

चेहरे पर चुहचुहा आए पसीने को पोंछते हुए पिता का दयनीय चेहरा मेरी आँखों के सामने लटक गया और जिन्दगी में पहली बार मुझे नहीं देख पाओगी। अब तुम खा-पी लो और सो जाओ। रात तुम्हें फिर जागना है।

कजरी चुप हो गई। प्रेमा और चम्पा के चेहरे पर फैला तनाव दूर हो गया था। कजरी ने भी अपने आपको हल्का महसूस किया।

केतली में बची हुई चाय को दगडू ने फिर भट्टी पर रख दिया और पंखी से हवा करने लगा ताकि ठंडी भट्टी में थोड़ी आँच निकल आए और बची-खुची चाय बेचकर वह भी अपना धन्धा समेट ले।

दौड़

उषा महाजन

उसे अधिक पूछताछ की जरूरत नहीं पड़ी थी। भला बड़े साहब को वहाँ कौन नहीं जानता था? स्टेशन पर ही पता चल गया था कि फैक्टरी कोस भर भी दूर नहीं थी। पाँच-पाँच कोस तो गाँव का मनई ऐसे ही डोल लिया करता है। आखिर गोड़ काहे को दिए थे राम जी ने! पर साहब का नाम सुनते ही इक्के-रिक्शे वालों ने उसे घेर लिया। थोड़ी देर सोच-विचारकर उसने पैदल चलने का विचार त्याग दिया। एक चुस्त-दुरूस्त ऊँची सीट वाले रिक्शा पर साधिकार बैठ उसने चालक की पीठ थपथपाते हुए उसे साहब के डेरे की ओर चलने का आदेश दिया।

निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचकर पाजामे की जेब से अठन्नी निकाल रिक्शे वाले को थमाई तो उसकी असंतुष्टि दृष्टि तक ही सीमित नहीं रही थी “यह तो तुमहीं रखो भैया, हमार त रुपैया डेढ़ ठो बनता है इहाँ तक का!”

“अबे चुप बे, जानता नाहीं है तू हमका! साहेब के नातेदार हैं, समझा!”

“तब तो औरो...”

“अब सरक ले इहाँ से, नाहीं त एक लफूफा देब कि...”

रिक्शा वाला जिस्मानी तौर पर कमजोर था, सो उसका हट्टा कट्टा बदन देख, बिना ज्यादा तू-तड़ाक किए खिखियाता हुआ खिसक लिया। स्तंभित-सा वहाँ खड़ा रह गया था तो वह स्वयं ही। इमारतें उसने भी बहुत देखी थीं। कलकत्ते की लिफ्टों वाली, आसमान को छूती ऊँची-ऊँची ‘मल्टी-स्टोरियो’ से लेकर हुगली के किनारे अंग्रेजों के जमाने में बने बड़े-बड़े कमरों वाले जहाजों जैसे बंगले उसने सिर्फ देखे ही नहीं थे, उनके भीतर कभी सफाई-धुलाई भी वह करता रहा था। लेकिन इस छोटे से कस्बे में यह इतनी विशाल कोठी? इस रामसरन के बच्चे की? गाँव की बनस्पति मिल के उस मामूली से कर्मचारी का वह सींकिया-सा छोकरा? कोठियों, फैक्टरियों का मालिक?

वह हतप्रभ-सा खड़ा कभी ऊँची लाल दीवारों की बन्द खिड़कियों से झाँकते एयरकंडीशनरों को देख रहा था तो कभी पोर्टिकों में खड़ी विलायती मोटरगाड़ियों को। रामसरन से मिल पाना जितना आसान उसने समझा था, उतना अब लग नहीं रहा था।

कितना समझाया था चौकीदार को कि वह साहब का बचपन का दोस्त है। दोनों एक ही गाँव में पले-बढ़े हैं, पर भीतर खबर पहुँचाने में ससुरे ने आधा घंटा लगा दिया। और अब उसे भीतर जाने भी दिया तो साहब ने ही दर्शन को तरसा दिया था।

इंतजार करते-करते वह ऊँघने लगा। ऐसा भी क्या था भला? आखिर होगा तो वही सरना जो उसके साथ गल्ली-डंडा...

आँखें उठीं तो चकित-सा वह देखता ही रह गया। यह तो वही सरना नहीं लग रहा था। अंगुलियों में फंसा चुरूट, मुख पर आत्मविश्वास की दमक, शरीर भी फैल फाल कर...आखिर तीस बरस होते भी तो बहुत हैं। कितने अरसे के बाद देख रहा था सरना को! जी हुआ दौड़कर गले से लगा ले 'अरे सरना, हमारा यार' लेकिन सरना तो बिल्कुल निष्प्रभावित दीख रहा है। एकदम तटस्थ। निरा साहबाना। पता नहीं पहचान भी पाया है कि नहीं उसको? आखिर तीस बरस का अन्तर भी तो...

पहचान लिया था। खूब पहचान लिया था रामसरन ने उसे "कैसे हो हरिहर?"

हरिहर का तो कलेजा ही चाक हो गया। हरिहरवा से कैसे तो भला हरिहर बन गया था वह इस सरना के लिए। गले लगाने को बढ़े हाथ पुनः बंध कर गोद में आ गए "ठीकै हुई, सरन...," सरना कहते-कहते जुबान को जैसे काठ मार गया हो।

"कैसे हैं गाँव में तुम्हारे काका-काकी? खेती-बाड़ी कैसी चल रही है?"

शायद उससे भूल हुई थी! याद तो था सब सरना को "काकी तो कबै सरग सिधार गई। बुढ़ऊ हैं अउर छुटकी अउर ओकरा घर वाला है। बाकी का खेत-बाड़ी? हम त कब्वै सब छोड़-छाड़ कर हबड़ा चला गया रहा रज्जाक मियाँ के साथ। काफी दिन साहब लोगों के घर में काम किया, त ऊ हमको जूट मिल में लगवा दिए। अरे का बताई, बहुत पापड़ बेला। डेली कुल्ली का काम किया पहले कई बरस और जब पक्का किया त हम एक रोज साहब से झगड़ पड़ा। साहब हमको झापड़ लगा दिया। मामला गया यूनियन तक। क्या इस्ट्राइक-हड़ताल हुआ, क्या बतावें। बन्द रहा जूट मिल केतना दिन। मैनेजर बदला, तब्वै खुलने दिया। हमहूँ बहुत लीडरी किया मजदूरन का।'

चुरूट का लम्बा कश खींचते हुए साहब किसी सोच में पड़ गए "अब कहाँ हो?"

"अब का बताई? एक डकैती हुआ रहा, जोड़ीदारों के सग हमहूँ फँस गए। जेल तो सालै भर को हुआ, लेकिन नौकरी छूट गइल। तब से अइसे ही दर-दर भटकत हई। ई त कलकत्ता में रामविलास मिल गया रहा पिरिया सिनेमा के पास, अरे ओ ही जो हमनी के संग पढ़त रहा गाँधी विद्यालय में। कलकत्ता कारपोरेसन में हैं। ओ हो हमको बताया तुम्हार पता। बोला जो तुम्हार पास तो हमको जरूरे कोई..."

"अच्छा हरिहर, मैं तो चलूँगा अब। जरूरी काम है कुछ लोगों को बुलाया हुआ

है दफ्तर में...तुम आना फिर...”

बिना उसकी ओर पलट कर देखे साहब फुर्ती से ‘विजिटर्स रूम’ की सीढ़ियाँ उतर गए। शोफर ने मोटर का दरवाजा खोला, बन्द किया और वे पल भर में ही अदृश्य हो गए।

हरिहरवा शाम को फिर आया। कई बार आया। हर बार मेमसाब से ही मुलाकात होती। साहब कभी कलकत्ता गए होते कभी बंबई, तो कभी दफ्तर से ही नहीं लौटे होते। आखिर मजबूरी उनकी भी तो थी। हरिहरवा को बढ़ावा देने का मतलब था अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारना। थक-थका कर खुद ही लौट जाएगा।

हरिहरवा के रहते उनकी नींद, उनका सुख-चैन सभी तो हराम हो सकता था। जब से कम्बख्त आया, रह-रहकर उनकी नजर अपने हाथों पर जा पड़ती “अब सरना, अरे हुवा कि नाहीं तोहार पर्चा? होइ गवा हो तो भेज पीछे,” कई बार हरिहरवा पीछे से उनकी पीठ में खोद चुका था। खुद का पर्चा खत्म कर दोस्तों-यारों को नकल करवाना वहाँ आम बात थी। पर हरिहरवा को? अपनी जिस्मानी ताकत के बल पर कितनी ही बार उनकी फजीहत कर चुका था। जिद में आने की ही बात थी। रामसरन ने भी जिद ही ठान ली थी कि हरिहरवा को नकल नहीं करवाएगा।

“अबे, तो देख लेना बेटा, एही हाथे पै एतना नाज बा न तोहका। अउर जो हाथे नाहीं रही तब?”

और सचमुच स्कूल से घर लौटते हुए, अरहर के खेतों के बीच से जाती निर्जन कच्ची सड़क पर अपने साथियों समेत हरिहरवा ने उन्हें आ घेरा था। लातों, घुँसों और सरकंडों के समवेत प्रहार से अपने दोनों हाथों को भरसक बचाते हुए वे धिधियाने लगे थे “अरे बचाओ, बचाओ, मार डाला रेऽऽऽ” यह तो मिठुआ की माई अरहर के झाड़ों के पीछे से चिल्लाती हुई निकल आई थी तो ये लोग उन्हें छोड़ कर भाग लिए।

हाथ तो वह उनका तोड़ ही गया था, बायाँ ही सही। माँ और भाई-बहन उन्हें देख रो-रोकर बेहाल हो गए, पर बाऊजी वैसे ही धीरे-गम्भीर बने मिल की डिस्पेंसरी से जाकर प्लास्टर चढ़वा लाए थे उनके हाथ में। डाक्टर ने कहा था “ऐसी कोई घबड़ाने की बात नहीं।”

घबड़ाने की बात तो हरिहरवा के लिए बन आई थी। हैडमास्टर साहब ने उसको स्कूल से ‘रस्टीकेट’ कर दिया था वैसे भी पढ़ना वह चाहता ही कहाँ था, पर उसका काका बाऊजी के पास आकर बहुत रिरियाया था “बिन माई-बाप का छोकरा बा, हजूर! रौंआ के माफ करले त हैडमास्टरो मान जाई। दसवीं पास करि लै त कहीं फ़ैक्टरी-वैक्टरी में लग जाई। एगो साहब स बतौ करले रहलीं!”

बाऊजी तो हमेशा से ही नरम दिल रहे। हरिहरवा के साथ उनकी सुलह करा दी। उसके काका के साथ हैडमास्टर को मिलने भी चल दिए।

घर लौटे तो अम्मा बहुत नाराज हुई “अपने बेटे का तो ख्याल नहीं, उलटे दुश्मनों की फरियाद करने चल दिए।”

बाऊजी को अपने-पराए की पहचान होती तो भला अपने हिस्से की सारी जमीन-जायदाद अपने सौतेले भाइयों को हड़प जाने देते? केस-कचहरी नहीं करते? सौतेली माँ से भिड़ नहीं सके तो ननिहाल चले गए। वे कभी बाऊजी की तहेदिल से इज्जत न कर सके। इज्जत क्या? भीतर-ही-भीतर से खीज उठते थे वे बाऊजी की शिष्टता-सौम्यता देख। बुजदिल कहीं के, पाखंडी। कायर न होते तो इस तरह से पुरखों की जमीन-जायदाद से बेदखल होना चुपचाप सह जाते! आखिर इस भलमनसाहत के एवज में मिला ही क्या था उन्हें? मिल की यह नागवार नौकरी? जिसमें बाल-बच्चों का पेट भी मुश्किल से पाल पा रहे थे। या अम्माँ की पैबन्द लगी धोतियाँ?

अम्माँ जब भी लड़तीं कि उन्हें बच्चों के भविष्य की फिकर नहीं, तो बस उनका एक ही तकिया-कलाम होता “अरी भगवान, किस्मत सबकी वही ऊपर वाले के हाथ होती है। किस्मत भी भला कोई बाँट सकता है? मेरे बच्चे लायक हैं। देख लेना इन सबने पढ़-लिख कर अपने-अपने पैरों पर खड़े हो जाना है। देखना, सबने कितने बड़े-बड़े आदमी बन जाना है। पढ़ने-लिखने से तो हाथ की रेखाएँ भी बदल जाती हैं!”

बाऊजी का कहा सच निकला। दोनों छोटे भाई पढ़-लिख कर सरकारी महकमों में बड़े-बड़े अफसर लग गए। बहन यूनीवर्सिटी में लेक्चरर। सबसे छोटा विक्रम बी. कॉम. करके आगे पढ़ने विदेश चला गया था वजीफे पर। अब तो उन सबकी पढ़ाई पर लिया हुआ कर्जा भी बाऊजी उनकी कमाई से ही उतार चुके थे।

और वे भी क्या कम थे किसी से? भले ही बाऊजी की नजरों में उनकी कमाई का एक पैसा भी छूना पाप था। बाऊजी जानते थे यह फैक्टरी, यह कोठी, ये मोटरगाड़ियाँ उन्होंने कैसे हासिल की थीं। पर क्या खाक जानते थे वे? एक मामूली मोटर मैकेनिक से एक ठेकेदार का सुपरवाइजर और सुपरवाइजर से खुद ठेकेदार बनना और फिर अपने ही बलबूते पर कई एकड़ों में फैला यह औद्योगिक साम्राज्य खड़ा कर लेना... सफलता के शिखर पर चढ़ने के लिए किन-किन रास्तों से गुजरना पड़ा है, यह बाऊजी को भी कहाँ पता चल पाएगा!

“साब, सुना है मजदूर हड़ताल करने वाले हैं!” पर्सनल असिस्टेंट भीषम ने दफ्तर में घुसते ही उन्हें इत्तला दी।

“क्यों? बाबूराम को खिलाया-पिलाया नहीं है क्या? अरे भई, यूनियन के लीडर को खुश रखना चाहिए। जाइए, जीप दे दीजिए, शॉपिंग-वापिंग करवा दीजिए शहर से। और दारू-बारू भी। जो भी वह चाहे, देख लीजिएगा। ऐसी क्या प्रब्लम है?”

“नहीं सर, मामला जरा नाजुक हो गया है। सिर्फ बाबूराम की ही बात होती तब तो उतनी परेशानी नहीं थी। पर कुछ दिनों से उसके साथ एक और आदमी रहने

लगा है। बहुत बड़ा गुंडा है, सर। बहुत हुड़दंग मचा रहा है मजदूरों में।”

“कौन? करीम? दुलारे?”

“नहीं सर, एक हरिहर करके आया है कलकत्ता से। छँटा हुआ गुंडा है सर। करीम, दुलारे का भी बाप है। बाबूराम के साथ उसी के घर पर रहता है। सुना है, हरिहर कलकत्ता की जूट मिलों में काम करता था। वहाँ तो आप जानते ही हैं। आए दिन हड़ताल, तालेबन्दी...। बाबूराम को भड़का रहा है। रिलायबल सोर्स से पता चला है कि...”

“नाउ स्टॉप इट।” साहब के तेवर बहुत गर्म हो गए थे। पर्सनल असिस्टेंट फाइलें समेटते हुए अपने कमरे में खिसक लिया।

थोड़ी देर बाद ही साहब का बुलावा आ पहुँचा “हरिहर ही नाम है ना? क्या बताया आपने?”

“जी।”

“हूँSSS,” साहब कुछ देर सोचते रहे। फिर अचानक ही निर्णय ले लिया हो “मैनेजर को कहिए, हरिहर को बुलाकर फैक्ट्री में लगा लें।”

“जी।”

“नाऊ डू एज आई सेड। मैनेजर साहब को मेरा मैसेज कन्वे कर दीजिए। तुरन्त!”

साहब खासे रिजर्व किस्म के इंसान हैं। बोलते बहुत कम हैं। बोलें भी तो किससे? बेटा पढ़ने के लिए विदेश गया तो फिर वापस लौटा ही नहीं। वहीं किसी अमरीकन से शादी करके उनका घर-जमाई बन गया। बेटा पढ़ने में उतनी होशियार नहीं, पर उसे पढ़ने का शौक था। डाक्टर बनने की धुन सवार थी उस पर, सो एक लाख रुपए की ‘कैपिटेशन फी’ भर कर दक्षिण के किसी मेडिकल कॉलेज में भर्ती करा दिया। छुट्टियों में यहाँ नहीं आना चाहती, भाई के पास विदेश चली जाती है। कभी आती भी है तो उसकी बातें उन्हें समझ में नहीं आती! जल्दी ही तंग आ जाती है वह! पहाड़ों पर छुट्टियाँ बिताने की फरमाइश। पत्नी के साथ ही भेज देते हैं उसे। वे कहाँ जा पाते हैं? जाना चाहते भी कहाँ हैं वे उनके साथ? यह फैक्ट्री उनकी। शायद पहली ही। अपनी बीवी तो उन्हें कभी रास ही नहीं आई। आखिर था भी क्या उन दोनों के बीच?... जी.एम. साहब ने बहुत से कांट्रैक्ट दिलाए थे उन्हें। शुक्रगुजार थे वह उनके तहेदिल से। आखिरी ठेका ही उनकी जिन्दगी का सबसे अहम् ठेका था। उसी के बलबूते पर तो उन्होंने इस फैक्ट्री की आधारशिला डाली थी। लेकिन महंगी बहुत पड़ी थी उन्हें यह सौदेबाजी। जी.एम. साहब की भारी-भरकम, नीम-पागल बेटा को हमेशा-हमेशा के लिए सहने की कीमत चुका कर ही उन्होंने यह सारी विरासत खड़ी की थी।

इस फैक्टरी के लिए उन्होंने अपनी जवानी की आहुति दी थी। दिन-रात मन को इसके प्रसार-विस्तार, प्रबन्ध से सम्बन्धित परेशानियों से उलझना होता। आखिर उन्हें क्या मिलता था इसमें? यह तो कभी उन्होंने सोचा ही नहीं। इसे और आधुनिक बनाने के कार्यक्रम और नए प्लांट खोलने की आकांक्षाएँ, ज्यादा से ज्यादा पैसा बनाने का मोह..? नहीं, दो जून रोटी से ज्यादा तो वे भी कहीं खा पाते थे। लेकिन जिस दौड़ में वे शामिल हो चुके थे, उसमें रुकने का कोई मतलब नहीं बनता। पहले दूसरे नंबर पर नहीं पहुँच सकते तो क्या? अपने करीबी प्रतिद्वंद्वियों से तो मात नहीं खानी थी न!

हरिहरवा अब फैक्टरी में काम करने लगा था। काम क्या, मजदूरों का बेताज बादशाह बन बैठा था। बादशाह काम नहीं किया करते, सिर्फ संरक्षण देते हैं अपनी प्रजा को, सो बाबूराम का फर्ज वही निभाने लगा था। मजदूरों के बीच बाबूराम से ज्यादा हितैषी बनने की कोशिश में लगा था।

खबर बाबूराम को लग गई थी और साहब को भी। परेशानी दोनों के लिए ही थी। पर साहब कभी परेशानियों से नहीं घबराए। उनमें परेशानियों को सहने की और उनसे निपटने की ताकत थी और सूझ भी। उन्होंने जिन्दगी को तौल-तौल कर नहीं जिया था। वे इसकी एक-एक रग से वाकिफ थे। सफलता के इस शिखर पर वे ऐसे ही नहीं पहुँच गए थे।

हरिहरवा अब कब तक बाबूराम के साथ उसके मकान में उसी छत के नीचे रह सकता था? साहब को कितना ख्याल था उसका! सो उसे कंपनी की ओर से डी-टाइप का क्वार्टर रहने के लिए दे दिया गया। साहब की कोठी में आने-जाने पर भी कोई निषेध नहीं रहा। आखिर बचपन का लँगोटिया यार जो ठहरा। मुँह में पान चबाता, लाल गमछे को साफे की तरह गले में डाले जब-जब फाटक पर पहुँच जाता, तो दरबान खिखियाता हुआ उसके वास्ते रास्ता बना देता।

हरिहरवा भला अब काहे को हड़ताल चाहेगा? सिर पर छत है, पेट में दाना है, कहने को मालिकों का जमाई है। अब तो आबरू का सवाल था तो बाबूराम के लिए जब तक मजदूरों को प्रोडक्शन बोनस में बराबर का हिस्सा नहीं मिलता, पगार नहीं बढ़ाई जाती, कंपनी का अपना अस्पताल और मजदूरों के लिए पक्के क्वार्टर बनाए जाने का आश्वासन नहीं मिलता, तब तक कोई मजदूर काम पर नहीं जाएगा।

हड़ताल जारी है। कई दिनों से मजदूरों के घर चूल्हा नहीं जला। यह न बाबूराम जानता है, न हरिहरवा। हरिहरवा तो इतना भी नहीं जानता कि साहब की ओर से समझौते का पैगाम ले जाने पर बाबूराम इस कदर भड़क उठेगा “साला, भंडुआ कहीं का। दलाल बन के आया है मालकिन का? समझौता करना था तो मैनेजर को काहे नहीं भेजे? साले अब जेब गरम करके तुम चाहता है जो...”

हरिहरवा ने भी गर्दन दबोच ली थी बाबूराम की “भंडुआ कहता है, हरामी

हमको? अरे तू जानता नाहीं का हमका...?” नौबत हाथापाई तक आ गई। तमाशबीनों ने बीच-बचाव करके दोनों को अलग किया।

उसी रात हरिहरवा का कत्ल हो गया। तड़के ही शहर से पुलिस आ गई। अधिक छानबीन की जरूरत नहीं पड़ी। शक की बिना पर बाबूराम को हिरासत में ले लिया गया।

सिर झुकाए मजदूर धीरे-धीरे काम पर लौटने लगे। फैक्टरी का फाटक खोल दिया गया। एक-एक कर हाजिरी लगाते हुए सबने अपनी-अपनी मशीन सँभाल लीं। फैक्टरी का भोंपू फिर से समय पर बजने लगा। चिमनियों से निकलते हुए धुएँ और मशीनों के समवेत कोलाहल से लगा कि कस्बे में फिर से जान आ पड़ी है।

उस रात मजदूरों के घर फिर से हलचल हुई। कई दिनों के बाद ढंग से रसोई बनी। निस्तब्धता छाई थी तो हरिहरवा के क्वार्टर पर और बाबूराम के घर। रोते-बिलखते बाबूराम के बीवी-बच्चे थक कर अधमुँए पड़े थे। पड़ोसियों के लाख कहने पर भी किसी से एक कौर भी निगला न गया। भूखे ही धीरे-धीरे सब नींद की गोद में समा गए।

खाना तो उस रात साहब से भी नहीं खाया गया। पर नींद की आगोश में पहुँच पाना भी क्या सहज था? विजन रात्रि की उस रहस्यमयी नीरवता में, ऊँची-ऊँची चारदीवारी से घिरे अपने सुरक्षित विलासमय दुर्ग में वे रह-रहकर किसी अज्ञात भय से काँप उठते थे। उनके शयनागार की बत्ती अब भी जल रही थी। एक के बाद एक धुएँ के छल्ले उड़ाते वे अब भी बेचैनी से इधर से उधर टहल रहे थे।

चौराहा

सुनील कौशिश

सवेरे ही उसकी आँख खुल जाती है। नित्य कर्म से निबटकर वह खिड़की के पास पड़ी कुर्सी पर आकर बैठ जाता है और बाहर की ओर देखने लगता है। कुछ बूढ़े सड़क पर घूमने जाते हुए दिखलाई पड़ते हैं। कोने वाले रामप्रसाद हलवाई का नौकर अँगीठी सुलगाने लगता है। चौराहे के उस पार वाले सरकारी नल पर एक आदमी दातुन चबा रहा है। धीरे-धीरे औरतें, हाथों में बाल्टियाँ लटकाए नल पर जमा होना शुरू हो जाती हैं। उस तरफ सिंधियों की बस्ती है न। उधर से ही औरतें पानी भरने आती हैं। सात बजते-बजते नल पर काफी भीड़ हो जाती है। सुबह को सभी लोगों को काम पर जाने की जल्दी होती है यूँ भी नौ बजे तक तो नल ही चला जाता है। इसी अफरा-तफरी में पानी भरने के पीछे कभी-कभी झगड़ा भी हो जाता है। झगड़ा पहले गाली-गुफ्तार से शुरू होता है फिर बाल्टियों की उठा फेंक होती है। इसी दौरान कभी-कभी मारपीट भी हो जाती है। फिर मुहल्ले के दादा टाइप लोग आकर सुलहनामा कराते हैं। अच्छा-खासा हंगामा हो जाता है। सड़क चलने लगती है। स्कूलों के रिक्शे सीटी बजाते घरों के आगे आकर रुकना शुरू हो जाते हैं। फैक्ट्री जानेवाले लोग साईकिलों के हैण्डलों पर टिफिन कैरियर लटकाए जाते हुए दिखाई देने लगते हैं। स्कूटर, रिक्शे चलने लगते हैं। राधे पान वाला दुकान का शटर उठाता है। सामने मोती चाय वाले की दुकान पर आदमी नजर आने लगते हैं। खिड़की पर बैठे-बैठे अब तक वह चार-पाँच सिगरेट फूंक चुका होता है।

कमरे का ताला लगाकर वह मोती की दुकान पर आ जाता है। पहले अखबार देखता है फिर चाय पीता है। नौ बजे तक चौराहे का सिपाही भी आ जाता है और मोती राम से बतियाता है। दस बजे से पहले वह कभी भी चौराहे पर खड़ा नहीं होता। उसे लगता है आज का दिन अब शुरू हुआ है।

चाय पीकर वह कमरे पर वापस लौट आता है। कपड़े बदलकर ऑफिस जाने के लिए तैयार होता है। साढ़े नौ बजे ही वह बाहर निकल आता है। सामने ही बस स्टॉप है। राधे पान वाले की दुकान पर आकर सिगरेट खरीदता है। उसके ऑफिस के

लिए यहाँ से बारह और अठारह नम्बर की बसें जाती हैं। बस स्टॉप पर स्कूल जानेवाली अध्यापिकाओं और अन्य नौकरीपेशा महिलाओं का आना शुरू हो जाता है। वह रोज देखता है। एक भूरी आँखों व लम्बे-लम्बे बालों वाली लड़की, कन्धे पर बैग लटकाए चली आती है। वह चारों ओर नजरें दौड़ाती रहती है मानो किसी को तलाश कर रही हो। उसी के पीछे-पीछे, कभी पहले भी एक खूबसूरत लड़का स्कूटर पर आता है और राधे की दुकान के आगे स्कूटर खड़ा करके पान खाता है। लड़की उसकी ओर देखकर मुस्कराती है। जवाब में वह मुस्कुरा देता है धीरे से। दोनों एक दूसरे की आँखों में कुछ पढ़ने की कोशिश करते हैं। यह सिलसिला काफी दिनों से चल रहा है। उसने उन दोनों को कभी बातें करते नहीं देखा है। लड़की शायद किसी ऑफिस में काम करती है और पीछे के किसी ब्लॉक में रहती है। लड़की बस में चढ़कर चली जाती है। लड़का भी स्कूटर स्टार्ट करके चला जाता है।

ऑफिस में कदम रखते ही गोरखा चौकीदार बहादुर हौले से मुस्कुराकर उसका स्वागत करता है। उसका हौले से मुस्कुराना उसे अच्छा लगता है। न जाने क्यूँ पिछले कई वर्षों से वह उसे लगातार देख रहा है। जरा भी तो नहीं बदला है वह। बहादुर इस ऑफिस का पूरा इतिहास जानता है। वह भी पिछले आठ वर्षों से यहाँ काम कर रहा है। क्लर्क है वह ऑफिस में। इतनी बड़ी दुनिया में अकेला ही तो है वह। माँ कब मरी थी, यह तो, उसे याद नहीं है। सुना था, जब चार बरस का था, तभी मर गई थी। पिता जब मरे थे तब वह नौकरी पर लग चुका था। बस दूर-दराज के रिश्ते-नाते के लोग हैं जो कभी-कभार मिलने चले आते हैं। दोपहर का खाना वह ऑफिस के बगल वाले शर्मा भोजनालय पर खा लेता है और शाम को चौराहे के नजदीक ही सरदार जी के होटल में।

ऑफिस में लोगों का आना शुरू हो जाता है। बॉस ठीक दस बजे अपनी केबिन में पहुँच जाता है। वह भी अपनी सीट पर पहुँच जाता है। ऑफिस का काम शुरू होता है। फाइलें इधर से उधर होने लगती हैं। मिस खण्डेलवाल के ऑफिस में कदम रखते ही बाबुओं के चेहरों पर एक मुस्कान भरी लहर दौड़ जाती है। वह पिछले चार वर्षों से देख रहा है मिस खण्डेलवाल कभी समय पर ऑफिस में नहीं आई। वह बॉस की पी.ए. है। इससे पहले यहाँ मिस रूबी हुआ करती थी और बॉस थे मिस्टर अग्रवाल। अब तो खैर हैड ऑफिस में है। पहले तो दोनों के बारे में कानाफूसी ही होती रही। बाद में दोनों ने शादी कर ली थी। शादी के बाद तो वह कभी-कभार मिस्टर अग्रवाल की कार में ही दिखाई पड़ती थी। सुना है अब तो बच्चे भी हो गए हैं उसके। उसके बाद से तो यहाँ बहुत-सी तब्दीलियाँ हो गई हैं। डिस्पैच में पहले महावीर प्रसाद थे। उनका ट्रांसफर हो गया तो उनकी जगह मिस चन्द्रा रख ली गई है।

जब बॉस यहाँ आया था तभी यह बात चुपके-चुपके फैली थी कि वह कुछ

रंगीन तबियत का आदमी है। यूँ वह शादीशुदा है और तीन बच्चे हैं उसके। मिस खण्डेलवाल को लेकर उसकी काफी चर्चा है। कैशियर अरुण कुमार की ओर मिस चन्द्रा का झुकाव बढ़ता ही जा रहा है। ऑफिस के बाद उसने कई मर्तबा दोनों को साथ-साथ देखा भी है।

शर्मा भोजनालय से खाना खाकर वह सड़क के किनारे आ खड़ा होता है। कभी-कभार पान भी खा लेता है। दूसरे लोग ऑफिस में ही लंच लेते हैं। पास ही फुटपाथ पर तीन आदमी तिपत्ती का खेल जमाए हुए हैं। एक आदमी जमीन पर एक कपड़ा बिछाकर ताश के तीन पत्ते रखता है। उसी के दो साथी घूमकर आते हैं। वह दोनों को जोर-जोर से बताता है 'तीनों पत्ते पहचान लो, फिर लगाओ, जितने ही लगाओ, उतने ही और मिलेंगे।' एक आदमी एक पत्ते पर एक रुपए का नोट रख 'बादशाह' कहता है। वह पत्ता पलटता है तो बादशाह ही निकलता है। वह तुरन्त एक रुपया और दे देता है। फिर दूसरा आदमी एक और पत्ते पर पाँच रुपए रखकर कहता है 'इक्का'। पत्ता पलटते ही इक्का निकलता है। वह उसे भी अपनी जेब से पाँच रुपए दे देता है। भीड़ बढ़ती जाती है और धन्धा शुरू हो जाता है। फटे हाल लोग भी आकर इस धन्धे में हिस्सा लेते हैं। वह रोज ही इन लोगों को देखता है। कभी ये इधर बैठते हैं तो कभी सड़क के उस पार वाले फुटपाथ पर। सिपाही इसके आसपास घूमता रहता है, पकड़ने के लिए नहीं, अपने हिस्से के लिए। वह सोचता है जिन लोगों को पेट भर खाना नहीं मिलता, एक जोड़ी कपड़े मय्यसर नहीं होते, वे जुए के लिए पैसा कहाँ से ले आते हैं?

शाम पाँच बजते ही वह ऑफिस से बाहर निकल आता है। बस स्टॉप पर खड़े रहकर बस के आने का इन्तजार करता है। लोग-बाग घरों को लौट रहे होते हैं। सवेरे जैसी ताजगी अब उनके चेहरों पर नहीं होती है। वे निचुड़े हुए से लगते हैं। सब घर लौटने की जल्दी में दिखलाई देते हैं।

अपने स्टॉप पर उतरते ही उसे वही चौराहा दिखाई देता है जिसे वह सुबह छोड़कर चला जाता है। सिपाही अपनी ड्यूटी खत्म करके घर चला गया होता है। बस से उतर कर भूरी आँखों वाली लड़की पीछे की ओर जाती दिखलाई देती है। स्कूटर वाला लड़का राधे पान वाले की दुकान पर खड़ा होता है। वह कमरे पर जाता है और बत्ती जलाकर चारपाई पर पसर जाता है। थोड़ा सुस्ताने के बाद उठकर नहाने चला जाता है। कपड़े पहनकर चौराहे पर निकल जाता है। भगवती बुक स्टॉल पर आकर पत्रिकाएँ उलटता-पलटता है फिर वहीं से खाना खाने होटल पर निकल जाता है। लौटते-लौटते रात के नौ बज जाते हैं। चौराहे पर आकर ठहर जाता है, सिगरेट सुलगाता है और थोड़ी देर वहीं खड़ा रहता है। प्रकाशवती मास्टरनी के दरवाजे पर एक कार खड़ी है। चौराहे से हटकर ही उसका मकान है। प्रकाशवती किसी स्कूल में

पढ़ाती है। करीब दस बरस पहले उसके पति ने छोड़ दिया था। लोग कहते हैं बदचलनी के कारण। दो ही बच्चे हैं। सुमन लड़की है और उससे बड़ा एक लड़का। लड़का तो तीन बरस पहले ही घर छोड़ कर चला गया था, आज तक लौटकर नहीं आया। सुमन किसी ऑफिस में काम करती है। बस दो ही जने हैं माँ और बेटी। इस घर के दरवाजे पर अक्सर ही रात में कार या स्कूटर दिखाई दे जाता है। आने वाले लोग सीधे अन्दर चले जाते हैं। कभी-कभी सुमन भी सजी-सँवरी कार में चली जाती है। जब वह कार में बैठकर जाती है तो पान की दुकान पर खड़े लड़कों की फुसफुसाहटें बढ़ जाया करती हैं।

वह कमरे पर चला जाता है। कपड़े बदलकर बत्ती बुझा देता है और चारपाई पर लेट जाता है। बहुत देर तक उसे नींद नहीं आती। वह लेटे-लेटे ही सोचता है, इस मंहगाई में भी गरीब लोग जुआ क्यों खेलते हैं? भूरी आँखों वाली लड़की उस स्कूटर वाले लड़के से बात क्यों नहीं करती? मिस खंडेलवाल जवान होकर भी उसे बूढ़े बाँस से क्यों चिपकी है? सुमन कब तक इसी तरह सज-सँवर कर कारों में जाती रहेगी? उसकी माँ उसकी शादी क्यों नहीं कर देती? वह सोचता है। वह रोज सोचता है। चारपाई पर पड़े-पड़े करवटें बदलता रहता है। सोचते-सोचते ही उसे नींद आ जाती है।

वी.आई.पी. कुंदन सिंह परिहार

घर के सभी लोग देख रहे थे कि कई दिनों से टायलेट का पानी आसानी से नहीं निकल रहा था। ऊपर से डाला हुआ पानी एक-दो बार वापस लहर मारता था, उसके बाद धीरे-धीरे कम होता था। उसका स्तर भी बढ़ रहा था, और पिछले तीन-चार दिन से तो वह इतने ऊपर चढ़ रहा था कि टायलेट का इस्तेमाल मुश्किल लगने लगा था। घर के लोगों को अब चिंता होने लगी थी। सोहन के बाबू दिन में कई बाल्टी पानी झाँकते थे, इस उम्मीद में कि शायद कोई अवरोध हो तो पानी की मार से हट जाए, लेकिन अब पानी का स्तर बढ़ने के साथ ज्यादा पानी डालना बेवकूफी लगने लगा था।

घर का हर सदस्य दो-चार घंटे में बाथरूम में झाँक आता था, और बाकी सदस्यों को किसी स्वास्थ्य-बुलेटिन की तरह चिंतित स्वर में खबर दे देता था 'वैसा ही है।' टायलेट में रुका पानी सबके दिमाग में कीड़ा बनकर कुलबुलाने लगा था। बाहर से धूम-धामकर लौटा आदमी पहले बाथरूम में झाँकता था। उसके बाद ही कपड़े उतारकर ढीला होता था।

सोहन की अम्माँ अपने पतिदेव से दो-तीन बार कह चुकी थीं, 'किसी को बुलाओ जी। ये पानी चढ़ने के साथ हमारी साँस भी ऊपर को चढ़ती है। यही हाल रहा तो एक-दो दिन में निस्तार मुश्किल हो जाएगा।'।

सोहन के बाबू परेशान हैं। किसका बुलाएँ? किसी मिस्त्री, मजदूर, लोहार, बढई को बुलाने का काम होता तो दौड़-भाग करके ले आते। यह ऐसा काम है जिसका सींग पूंछ समझ में नहीं आता। पहले कभी जरूरत नहीं पड़ी, इसलिए इस मामले में बिलकुल कोरे हैं।

किसी ने बताया कि अलस्सुबह छः बजे रानीताल चौक पहुँच जाइए। वहाँ सफाई कर्मचारियों की हाजिरी होती है। वहाँ के जमादार से बात करके किसी 'चोक' खोलने वाले को ले आइए।

दूसरे दिन सोहन के बाबू ने पाँच बजे का अलार्म लगाया। तैयार होकर साइकिल से छः बजे रानीताल चौक पहुँच गए। वहाँ सन्नाटा था। अगल-बगल चाय

की दुकानों में भट्टी सुलगाते लोगों से पता चला कि आज इतवार है, छुट्टी है। आज कोई नहीं मिलेगा। बहुत जरूरी मामला है तो आगे बढ़कर आगा चौक से बाएँ मुड़ जाइए। मरघटई से पहले सफाई वालों की कॉलोनी है। वहाँ से किसी को पकड़ लाइए। नहीं तो फिर कल तक सब्र कीजिए।

सुनकर सोहन के बाबू का दिल बैठने लगा। अभी तक किसी मुर्दे के साथ ही उस रास्ते जाना पड़ा है। अब इस काम से सबेरे-सबेरे मरघटई का चक्कर लगाना पड़ेगा। लेकिन कोई उपाय नहीं है। कल तक पानी दो-चार इंच और ऊपर चढ़ जाएगा। फिर मुँह-अँधेरे आस-पास बसे मजदूरों की तरह डिब्बा लेकर किसी पुलिया के पीछे न जाना पड़े। मर्दों का तो चल भी जाएगा औरतों का क्या होगा?

हिम्मत बाँधकर उन्होंने पैडल मारे। आगा चौक से मुड़ते ही आसपास भारी गन्दगी शुरू हो गई। किसी तरह आगे बढ़कर वे कॉलोनी के मुहाने पर पहुँच गए। कॉलोनी गुलजार थी। आसपास स्वच्छंद सूअर घूमते थे। पान-सिगरेट की दुकानें थीं। लुँगी चढ़ाए बेफिक्र पुरुष और सुरती से मैले दाँतों वाली, श्यामवर्णी स्त्रियाँ इधर-उधर घूमती दिखती थीं। छोटे-छोटे घरों पर खपरैल के छप्पर थे। दोनों तरफ के घरों के बीच से श्मशान के लिए मुर्दे निकलते थे। कॉलोनीवासियों के लिए शवयात्राओं का कोई महत्व नहीं था। वे उनके जीवन का अंग बन चुकी थीं। कॉलोनी अब फैलते-फैलते बिलकुल श्मशान के नजदीक पहुँच गई थी, जहाँ से श्मशान का पूरा दृश्य देखा जा सकता था। जिन्दगी की जरूरतों और उसके दबावों ने मृत्यु के भय और जीवन-मृत्यु की दूरी को खत्म कर दिया था।

सोहन के बाबू ने अपनी तलाश शुरू की। ज्यादा परेशानी नहीं हुई। एक आदमी ने इशारे से बताया कि 'चोक' खोलने वाला तुलसीराम उस घर में रहता है। छोटा-सा घर था, जिसके बाहर वाले कमरे में एक बूढ़ा जमीन पर टाट या कम्बल पर उकड़ूँ बैठा बीड़ी पी रहा था। मैली बंडी और कमर में एक गमछा लपेटे। सोहन के बाबू को साइकिल खड़ी करते देख वह लपक कर बाहर आया, बोला, 'कुछ काम है, देखना है।'

सोहन के बाबू ने जवाब दिया, 'हाँ, टायलेट में पानी रुक रहा है। उसे देखना है।'

बूढ़ा कुछ और चपल हो गया, पूछा, 'कहाँ चलना है?'

सोहन के बाबू उसकी तत्परता से कुछ आश्चर्यचकित हुए, बोले, 'यहीं, यादव कॉलोनी तक।'

उन्होंने सोचा 'यहीं' 'बस' जैसे शब्द जैसे ठहराते वक्त काम आते हैं।

बूढ़े ने कई दिन की बढ़ी अपनी दाढ़ी को खुजाया, बोला, 'रुकिए। अभी चलता हूँ।'

अपनी उम्र को झुठलाता हुआ वह फुर्ती से अन्दर गया और पाँच मिनट में एक नीली कमीज और खाकी हाफपैट में लैस होकर आ गया। उसके बाद उसने दीवार से टिकी खस्ताहाल बाइसिकिल उठाई। उसे थोड़ा बढ़ाने के बाद उसने पहिए पर नजर डाली, टायर दबाया, फिर बोला, 'साली हवा नहीं है।'

फिर भीतर जाकर वह कागज का टुकड़ा और पेन्सिल लाया। बोला, 'पता लिख दीजिए। आप बढ़िए! मैं अभी पहुँचता हूँ।'

सोहन के बाबू पता देकर बढ़ गए। एक समस्या तो सुलझ गई थी, लेकिन दूसरी कुलबुलाहट शुरू हो गई थी। पैसे के बारे में कुछ बात नहीं हुई थी। पता नहीं कितने पैसे लेगा। उस वक्त बात करना ठीक नहीं लगा था। पहले दरवाजे तक तो पहुँच जाए।

घर जाकर उन्होंने निश्चिन्तता और खुशी से खबर दे दी। आदमी आ रहा है। सब के जी में जी आया। सोहन के बाबू बाहर ही उसका इन्तजार करने लगे।

जल्दी ही बूढ़ा दिखाई दिया। खड़खड़िया साइकिल पर तना बैठा साँवली देह पर रुई जैसे केश और दाढ़ी-मुँछ। पाँव में पुरानी हवाई चप्पल। एक बार फिर सोहन के बाबू को निश्चिन्तता महसूस हुई। कुरकुर करती रह गई वह पैसे वाली बात। आश्वस्ति की लहर घर के भीतर तक प्रवाहित हो गई।

बूढ़े ने घर की दीवार से साइकिल टिकाई, बोला, 'चलिए, देखा जाय', फिर बाहर आकर छोटे टैंक की जाँच की। उसके बाद बोला, 'रुकिए।'

वह सामने नाले के किनारे से एक बेशरम की छड़ी तोड़कर लाया और उसे कई बार पाइप में डाला। कोई असर नहीं हुआ। पानी जहाँ का तहाँ रुका रहा। बूढ़ा छड़ी नीचे रखकर, कमर पर हाथ रखकर जोर-जोर से साँस लेने लगा। सोहन के बाबू के दिल की धड़कन बढ़ने लगी। छड़ी के धक्के से पानी बह जाता तो शायद कम पैसे लगते। अब पता नहीं कितने पैसे लगेंगे।

बूढ़ा बोला, 'आपका सोकपिट वाला पाइप चोक हो गया है। उसे खोलना पड़ेगा। सोकपीट कहाँ है?'

सोहन के बाबू ने सेप्टिक टैंक के पास अन्दाज से बताया, 'यहाँ बनाया था।'

बूढ़ा बोला, 'खोदना पड़ेगा। मेरे अकेले के बस का काम नहीं है। मैं आदमी लेकर आता हूँ।'

सोहन के बाबू का सब्र अब टूट गया। मरी आवाज में बोले, 'पैसा कितना पड़ जाएगा।'

बूढ़ा बोला, 'एक सौ का पत्ता लग जाएगा साब। बहुत मेहनत का काम है।'

सोहन के बाबू को लगा जैसे उनके घुटने के स्क्रू कुछ ढीले हो गए हों। उन्होंने तीस-चालीस तक का हिसाब लगाया था। किस बूते मोल-भाव करें? बूढ़ा तुनककर चला जाए तो फिर क्या होगा?

लौटकर बाहर आ गए। बोले, 'चलो पचास दे देंगे। जल्दी करा दो।' बूढ़े ने भौंहे तान लीं, बोला, 'पचास में नहीं होगा। कसाले का काम है।' सोहन के बाबू ने दूसरा रास्ता पकड़ा, बोले, 'अब दादा, तुमसे पहचान हो गई है तो आगे भी तुम्हीं से काम कराएँगे। अब तो सम्बन्ध बना ही रहेगा। आगे की सोच कर बात करो।'

अन्ततः बूढ़ा सत्तर पर राजी हो गया। बोला, 'जरा दस का नोट दीजिए।' दस का नोट लेकर वह चला गया। सोहन के बाबू भीतर आकर बोले, 'दस का नोट लेकर चला गया।' फिर अपनी शंका को दबाते हुए बोले, 'लौट कर तो आएगा ही। उसका घर देख लिया है।'

आधे घंटे बाद बूढ़ा दो नौजवानों को लेकर लौटा। अब उसके पाँव कुछ लड़खड़ा रहे थे और बात में कुछ अतिरिक्त तेज आ गई थी। लगता था वह दस रुपए की 'दवा' पी आया था।

सोहन के बाबू से कुदाली माँगकर उसने खुदाई शुरू करा दी। अब वह सिर्फ डायरेक्टर बन गया था। दोनों नौजवान काम कर रहे थे और वह एक किनारे बैठा, बीड़ी के 'सूटे' लगाता, मीन-मेख निकाल रहा था।

अन्ततः एक नौजवान चिढ़कर बोला, 'मालूम है कि तुम चढ़ाकर आ गए हो, जरा चुप बैठे रहो। हमें अपना काम मालूम है।'

बूढ़ा चुप लगा कर बीड़ी पर लम्बे कश खींचने लगा।

करीब एक घंटे की खुदाई के बाद सोकपिट का पाइप निकल आया। उसका मुहाना साफ करते ही हलहलाकर पानी निकलकर गड्ढे में भर गया। नौजवानों पर उसकी दुर्गन्ध और उसकी गन्दगी का कोई असर नहीं था। बूढ़ा अब बैठा उसका विश्लेषण कर रहा था।

पाइप से चलकर टायलेट का पानी नीचे आ गया और उसी के साथ पूरे परिवार का बुखार भी जैसे उतर गया। लगा एक भारी काम हो गया।

नौजवानों ने नए सिरे से पाइप के मुँह के पास ईंटों के नए टुकड़े जमा दिए और फिर गड्ढे को भर दिया।

नौजवानों ने और बूढ़े ने सोहन के बाबू से पानी माँगकर हाथ धोए। उन्हें साबुन की दरकार नहीं थी। उसके बाद बूढ़ा पैसे लेने के लिए सोहन के बाबू के मुँह की तरफ देखने लगा।

सोहन के बाबू मुट्ठी में साठ रुपए दबाए थे। बोले, 'दस तो तुम्हें दे ही दिए थे। बाकी ये लो।' उन्होंने एक दस का नोट दबाकर बूढ़े को दे दिए।

बूढ़े ने नोट गिने। पाँचवाँ नोट गिनते ही सोहन के बाबू बोले, 'अब इतने में मान जाओ।'

बूढ़े की श्रृंखला फिर टेढ़ी हो गई। सोहन के बाबू समझ गए कि बिना दस और ढीले किए मुक्ति नहीं मिलेगी। इसके अलावा उन्होंने आगे की भी सोची। आगे फिर जरूरत पड़ी तो क्या होगा?

उन्होंने दस का नोट और बढ़ाया, बोले, 'लो, नाराज मत हो। खुश होकर जाओ।'

बूढ़ा सचमुच खुश हो गया। बोला, 'जब भी जरूरत हो, बुला लीजिएगा।'

गेट पर बूढ़े ने पैसों का बंटवारा किया। कुछ झकझक हुई फिर दोनों नौजवान पैसे लेकर अपनी-अपनी साइकिलें उठाकर बढ़ गए। बूढ़ा भी अपना खटारा उठाकर चलने को हुआ।

सोहन के बाबू उसकी तरफ बढ़े। पीछे से सोहन की अम्माँ ने पुकारा, 'अब चलो जी! नहा लो! कब से उस नर्क के पास खड़े हो।'

सोहन के बाबू ने हाथ उठाकर उन्हें चुप रहने का संकेत किया। फिर आगे बढ़कर बूढ़े से बोले, 'नमस्ते दादा!'

बूढ़ा यह 'नमस्ते' सुनकर चलते-चलते अचकचाकर रुक गया। पीछे मुड़कर संकोच से बोला, 'नमस्ते बाबू!'

सोहन के बाबू उसे विदा करके लौट आए। भीतर सोहन की अम्माँ बोलीं, 'अब उस बुढ़े के पीछे क्यों चिपके हो? और कोई काम नहीं है क्या?'

सोहन के बाबू झल्लाकर बोले, 'सबरे तुम्हारे प्रान चोटी पर चढ़ रहे थे। अब काम हो गया तो पूछ रही है कि बूढ़े के पीछे क्यों चिपके हो। बूढ़ा नहीं आता तो सब शान और सब बड़प्पन धरा रह जाता।'

सोहन की अम्माँ मुँह फेर कर काम में लग गई।

लालटेन भगवती प्रसाद द्विवेदी

उसने डकार ली और तसला, तवा, थाली, कड़ाही आदि सभी जूठे बर्तनों को उठाकर नल के पास जा पहुँचा। अचानक बर्फीली बयार न जाने किधर से लपलपाती आई और उसे डसती हुई कहीं गुम हो गई। एक मर्तबा नीचे से ऊपर तक काँप गया वह। बर्तनों को मटियाकर, जब वह उन्हें नल के नीचे खँगारने लगा तो थरथराती हुई उँगलियाँ गल-गलकर गिरती-सी प्रतीत हुईं। सभी बर्तनों को समेटकर, जब वह सिसियाते हुए अपने कमरे में लौटा, तो हाथ और बर्तनों से चिपकी माटी को देखकर उसे खुद पर ही हँसी आ गई। वितृष्णा से पुरजोर एक वीभत्स हँसी! न जाने कब सलीका आएगा उसे। हाथ को बोरे से पोंछकर वह खटिया की तरफ लपका और रजाई में दुबककर बाई करवट लेट गया।

लालटेन की पीली, मरियल रोशनी का कतरा कमरे में छितराया हुआ था। जलते-जलते लालटेन का फीता टेढ़ा-टेढ़ा हो आया था। तभी तो लौ भी धुआँदार टेढ़ी-मेढ़ी निकल रही थी। उसकी आँखें लालटेन पर जाकर टिक गईं। कैसी नियति है इसकी। एक तरफ तेल पीता फीता...जल-जलकर अस्तित्वहीन होता फीता, दूसरी ओर रोशनी बिखरती लालटेन...अँधेरे को चीरते हुए प्रकाश के अस्तित्व का अहसास कराती लालटेन। मगर क्या इसने कभी अपनी तरफ गौर किया है? क्या इसने कभी अपने अस्तित्व की भी परवाह की है? अँधेरे की गिरफ्त से अपनी पेंदी को मुक्त कर पाई वह? उसे लगा जैसे सामने लालटेन नहीं जल रही है, खुद वही जल रहा है तिल-तिल। मगर उस उजियाले में कौन ठहाके लगा रहा है? खुशियों की फुलझड़ियाँ उड़ता जा रहा है...? क्या वह खुद...या...या...? उसका हलक सूखने लगा और बाल्टी से एक लोटा पानी निकाल कर वह गटक गया है। रजाई फेंककर अब वह चित्त लेट जाता है। जम्हाई पर जम्हाई आ रही है, पर नींद कहाँ है? शायद उसे भी पंख लग गए हैं, चिरैया की नाई।

सामने ही बाऊजी की तस्वीर टँगी है। कैसा अनबूझ, मगर प्रगाढ़ रिश्ता। कौन किसका बाप और कौन किसका बेटा! यही बात शायद अभिमन्यु ने अर्जुन से कही

थी। रिश्तों का यह विशाल भँवर बाप, माँ, दादी, पत्नी, बेटा, बेटी...!

आज से नहीं, वरन उसके होश सँभालने के बाद से ही बाऊजी नाचते रहे हैं, भीतर-बाहर। माँ तो उसके होश सँभालने से पूर्व ही गुजर गई। कब गुजरीं कुछ मालूम नहीं। माँ की एक झलक की भी उसे याद नहीं। डेढ़ बरस की उमर भी भला कोई उमर है? होश सँभालने पर उसने जिस औरत को घर में देखा, वह उसकी माँ कतई नहीं थी। हो ही नहीं सकती। हालाँकि यह उसे प्यार करती थी, दुलारती थी। कभी-कभार गू-मूत भी साफ कर देती थी, एक माँ की तरह ही। उसने उसे बाऊजी के साथ हमबिस्तर होते भी देखा था कई मर्तबा। फिर एक दिन जब उसी औरत ने उसे आँख मारी, तो उसका पारा इतना गरम हुआ कि उसने उस बदजात को खरी-खोटी सुनाने में जरा भी कसर उठा नहीं रखी, क्योंकि तब तक वह होशियार हो चुका था और उसे इस बात की बखूबी जानकारी हो चुकी थी कि वह माँ नहीं, बसमतिया थी एक मजदूरिन, जो बाऊजी से गाहे-बगाहे पैसा ऐंठने में माहिर थी। उसने डोर डालकर बाऊजी को चंगुल में फँसाया था अथवा बाऊजी ने ही उसे, क्या जाने। बहरहाल, उसी रात बाऊजी ने पहली मर्तबा की नाई उसकी जोरदार धुनाई की और लुंज-पुंज होकर एक माह तक वह खाट पर पड़ा रहा। चरित्रहीनता का लाँछन अलग से। पूरे महीने उसके आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ, दिन-रात सिर्फ एक ही चेहरा नाचता रहा बसमतिया का चेहरा। उसका गू-मूत साफ करती बसमतिया...उसे दुलारती-पुचकारती बसमतिया...। बाऊजी का बिस्तर गरमाती बसमतिया...फिर उससे भी आँखें लड़ाती बसमतिया...‘उल्टा चोर कोतवाल को डांटे’ की कहावत चरितार्थ करती बसमतिया...। धन्य रे बसमतिया! औरत तेरे रूप अनेक। उसका अन्तर्मन वितृष्णा से लबालब भर आया और उसने खखारकर बगल में थूक दिया ‘आक्थू’।

अनिच्छा होते हुए भी उसकी नजरें पुनः बाऊजी की तस्वीर पर जा उलझीं। धोती-कुर्ते पर जवाहर जाकिट, सिर पर टोपी। हाथ और छड़ी ने एक रोज अपनी करामात दिखाई थी। बसमतिया चीख रही थी और छड़ी थी कि ताबड़तोड़ बरसती ही जा रही थी। पूरे गाँव में तहलका मच गया, वैसे ही जैसे सोए हुए सागर के सन्नाटे को चीरती हुई चट्टान आ गिरे और खलबली मचा दे। बसमतिया का शौहर शहर से गाँव आया था, पूरे तीन साल बाद और उसे पेट से देखकर आव देखा न ताव, लगा धुनने। वह रोती-बिलखती आ धमकी बाऊजी के पास। बाऊजी ठहरे गाँव के परधान। लगा, अब नाक कटने ही वाली है। मगर उन्होंने अपनी बुद्धिमानी का परिचय सरेआम दिया और उल्टे छड़ी उठाकर लगे अन्धाधुन्ध पीटने। बीच-बीच में मूँछें ऐंठते हुए लम्बी सांस लेना भी वे नहीं भूल पा रहे थे “साली, बदजात कहीं की! का बदनाम करने बदे हम ही एक मिले, जो चली आई ...है तिवारी जी को लाँछन लगान...ई सब करने से का...? मादर...।”

“तब हम कहाँ जाई सरकार?” बसमतिया का सवाल रुदन को चीरता हुआ फूटा था।

“हम का जाने...भाग इहाँ से...।” बाऊजी गरजे थे और बसमतिया सचमुच भाग गई थी। पीछे-पीछे बच्चे और कुत्ते भी लगे थे भागने। तब से आज तक वह लौटी नहीं। कहाँ चली गई वह? क्या वह ट्रेन से कटकर...जहर माहुर खाकर...फाँसी लगाकर...? एक ही साथ कई सवाल और संशय उसे घेरकर खड़े हो गए थे।

“परधानजी, ससुरी बसमतिया कहाँ बिला गई है?” शायद बटेसर, बाऊजी को कुरेदना चाह रहा था।

वह कोठरी में बैठकर कुछ लिख रहा था। अचकचाकर बाऊजी की ओर देखने लगा था। क्या जवाब देते हैं बाऊजी?

“कहीं भी जाए ससुरी!” बाऊजी खैनी पीटकर बटेसर की ओर बढ़ाने लगे थे, “जब चाह थी, अब चाह नहीं है, चूल्हे में चली जाए तो परवाह नहीं है।”

बाऊजी और बटेसर के ठहाके हवा में तैरने लगे थे।

करवट बदल ली उसने। भगमनिया की पठाई चिट्ठी अलमारी पर मुँह बाए पड़ी थी। अन्यमनस्क भाव से उसने एक बार फिर चिट्ठी को उठाया और सरसरी निगाह से लगा बाँचने “सोस्ती सिरी सर्व उपमा जोग लिखी भगमनिया के तरफ से स्वामी जी को पाव लगी!”

उसके होंठ फैल गए, भगमनिया के बचपने पर। भगमनिया से कैसा अटूट रिश्ता है उसका पति-पत्नी का रिश्ता...जीवनसंगिनी का रिश्ता। पर क्या वह समझ पाई है अभी तक इस रिश्ते की गहराई को? वह बेचारी क्या समझे, कैसे समझे? उसने तो सदा ही देखा-सुना है पति-पत्नी को स्वामी और नौकरानी की तरह जीते हुए। अशिक्षा और अपरिपक्वता के मंझधार से वह बेचारी छुटकारा पाए भी तो कैसे? सुलझे हुए दृष्टिकोण की पतवार कैसे उपलब्ध हो उसे? मगर भगमनिया से उसे कभी घृणा नहीं हुई, कभी मनमुटाव नहीं आने दिया। सारा गुस्सा बाऊजी पर ही आता रहा। बाऊजी को तिलक-दहेज में मिली मोटी रकम। तीन बीघे उपजाऊ खेत भी। एक एम.ए. पास लड़के से चौथी फेल भगमनिया का रिश्ता! उसकी भावनाओं को वह भला क्या समझ सकती है? वह चाहता है बार-बार उससे कुछ कहना। चाहता है, अपने अन्तर्मन की धधकती ज्वाला को भगमनिया के सामने ही उगल कर शान्त कर दे। मगर मन की हविश को मन में ही मारता है वह। करे भी तो क्या? भैंस के आगे बीन बजाओ, भैंस खड़ी पगुराई।

जब भी वह गाँव जाता है, भगमनिया रात-रात भर उससे बतियाती रहती है बाऊजी द्वारा गांजे, भांग खैनी में उड़ते फाजिल पैसों की बातें, अब भी मलहटोली में मटरगश्ती करने और बनिहारियों को पटाकर मुँह मारने की बातें, अपने नैहर की

बढ़ाई की बातें...बातें, सिर्फ बातें! मगर क्या करे वह उन बातों का? लड्डू गधे-सा कितना ढोए बातों का बोझ। अपनी बातें, भगमनिया की बातें, बाऊजी की बातें... सिर्फ बातें-ही-बातें!

बाऊजी की बातें भी उसे हू-ब-हू याद हैं सच को झुठलानेवाली बातें, भगमनिया पर झूठे लांछन लगाने वाली बातें, उसे 'बदतमीज', 'बेहया' आदि उपाधियों का जामा पहनाकर खुद को दूध का धोया साबित करने-करवाने की बातें। ऐसी-ऐसी मुँहफट और अश्लील बातों का लबादा, जिनसे ऊबकर वह आवेश में आए और भगमनिया को लगे धुनेठने! पर आज तक कभी भी वह ऐसा कर पाया है! बाऊजी द्वारा तुलसी बाबा की चौपाई 'ढोल, गंवार, सूद्र, पसु, नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी' जोड़ना और उसका चुपचाप उठकर चल देना। यही नियति रही है उसकी। तभी तो 'मेहरिमऊंग' का खिताब सरेआम उछाल दिया जाता है उस पर और तब उसे कुनमुनाने के बजाय मुस्कराकर टालने में ही मजा आता है। करे भी क्या! घर को मछली-बाजार तो बनाना है नहीं। शमशान-सा सन्नाटा ही उसे भाता है, न जाने क्यों?

भगमनिया की कौए की टाँग जैसी लिखावट पर फिर निगाहें टिकती हैं उसकी, कैसी-कैसी बातें लिखती है। पढ़ने पर लगता है जैसे एक अबोध दूध पीती बच्ची रिरिया रही हो, आँखें पसर जाती हैं ...“अब मुझसे आपके बाऊजी की ज्यादाती बरदाश्त नहीं होती...जब-न-तब लाठी लेकर पिल पड़ते हैं...घर में रोज-रोज कोई-न-कोई बनिहारिन के संग मौज-मस्ती करते हैं और मुँह मारकर मजूरी थमाते हैं...मुझे अपने साथ रखने से काहे कतराते हैं आप? एक बार ले भी गए तो पनरहियन में ही अकुला गए। न जाने काहे?...”

वजह भी भला क्या बतलाए वह? ज्यों ही वह भगमनिया को लाया, बाऊजी अलग मुँह फुला बैठे। सभी नाते-रिश्तेदारों ने चिट्ठी-पत्रों की झड़ी लगा दी। सभी ने एक ही राग अलापना शुरू कर दिया “बहू को अपने साथ ले जाकर तुमने अच्छा नहीं किया। क्या परधान जी को बुढ़ापे में यही सब बदा था? कोई खिलाने-पिलाने वाला भी न रहे! तुमने बीवी को साथ ले जाकर हम लोगों की सारी आशाओं पर पानी फेर दिया।”

फिर तो पन्द्रह दिनों में ही पन्द्रह करम हो गए उसके। भगमनिया को समझाया-बुझाया और बहानेबाजी करके घर पहुँचा आया। कुछ भी हो, मगर नखरे पसारने में बाऊजी का भी कोई जवाब नहीं। 'फक्का' फाड़कर रोना-बिलखना और गाँव भर को इकट्ठा करके सबको अपने पक्ष में हथिया लेना बखूबी आता है उन्हें। धन्य हैं बाऊजी, उनकी लीला और धन्य हैं गाँव के उनके पक्षधर!

एक झटके से उसने चिट्ठी अलमारी में फेंक दी और अतीत के बिखरे मोतियों को लगा गूँथने...उसने क्या गँवाया...क्या पाया? अनपढ़ों की बस्ती में सबको

अलग-अलग रहकर, बाऊजी के लाख विरोध के हथकण्डों को परे खिसकाकर उसने अपने बूते पर पढ़ना शुरू किया, स्कॉलरशिप की एक-एक पाई को जोड़कर फीस भरता रहा और जब पढ़-लिखकर कुछ करने-धरने के काबिल बना, तो बाऊजी ने अपने हक की फरमाइश की। बाप होने का हक। बेटा होने के नाते उसने अपना फर्ज निभाना ही उचित समझा और भगमनिया से शादी करके बाऊजी को सौंप दिया एक नौकरानी की मानिन्द सेवा-सुश्रुषा करने की खातिर। खुद उनकी इच्छा के मुताबिक अपना हाड़-माँस गलाकर रुपए-पैसे भेजना, खुद हर पल टूटना ही तो अब उसकी नियति है।

उसकी नजरें चारों तरफ घूम-फिरकर पुनः जलती हुई लालटेन के फीते पर अटक गईं। जलना और जलना। राख और राख। बाऊजी की सेवा में जुटी मेरी देह, भगमनिया की देह, फिर भी उनकी सुरसा-सी बढ़ती फरमाइशों की बाढ़। नित नई फरमाइशों-शिकायतों का एक लम्बा सिलसिला। भविष्य में बेटे की फरमाइशों में भी शायद इसी तरह टूटता जाएगा वह पल-छिन। सिर्फ कर्तव्य-ही-कर्तव्य। अभी बेटे की ड्यूटी, फिर बाप की जिम्मेदारी। जिम्मेदारी-ही-जिम्मेदारी। अधिकार कहाँ? अधिकार की माँग न उसने कभी की है और न ही करेगा। और अधिकार माँगने तक क्या वह टिक पाएगा? जब रोज-रोज टूटना है, बर्फ की नाई गलना है, तब क्या भरोसा! भगमनिया का उससे बरस में मुश्किल से एक माह का साथ, फिर भी वह उसकी जीवन-संगिनी!

भगमनिया अभी क्या कर रही होगी? क्या वह भी उसी की तरह करवटें बदलती होगी? नहीं, वह क्यों बदलेगी करवटें? वह तो रमुआ को गोदी में चिपकाकर निरभेद खरटि ले रही होगी। बगलवाले घर में बाऊजी किसी बनिहारिन के संग...उसे थुकथुकी बरने लगी।

कमरे में धुआँ उगलती लालटेन अचानक बुझ गई। सांय-सांय करते सन्नाटे को चीरते हुए धुएँ के गोले उसके नथुनों में समाने लगे और वह पूरब की खिड़की को खोलकर चारों तरफ ताकने लगा। लालटेन को हिलाने पर पता चला, तेल की आखिरी बूँद ने भी जवाब दे दिया था। फीता भी तो शायद खतम ही हो चला था। उसके अन्तर्मन से एक हूक-सी उठी और धुएँ की तरह पसरती गई। क्या उसकी देह का प्रोटोप्लाज्म भी कभी इसी तरह जवाब दे देगा और वह हमेशा-हमेशा के लिए गिरफ्त हो जाएगा अँधेरे की खोह में?

टूटते हुए लोग

मोहन लाल

दबे पाँव आँगन और झ्यौड़ी पार करने के बाद अनुराधा ने घूँघट सरका लिया और आकाश के साथ मिल कर चलने लगी।

‘पहले दिन से ही पिताजी से घूँघट न निकालती तो यह तकलीफ तो न सहन करनी पड़ती।’

कुछ कदम चुपचाप चलने के पश्चात् आकाश कहने लगा, ‘खुली मोहरी की ऊँची पैट वाले कार्टून-से के साथ सैर करते हुए शर्म नहीं लगेगी? लोग क्या...’

‘मेरी सूट भी खुली खुली है।’

‘जरी की कड़ाई वाली रेशमी सूट है। नई नवेली दुल्हन की तरह लग रही हो।’ अधूरी रह गई बात पूरी करने की कोशिश की, ‘लोग क्या...।’

‘लोगों का क्या है,’ बात काटकर अनुराधा बोली, ‘मेरे लिए तो सब कुछ आप हैं।’

‘सब कुछ क्या?’ होंठों पर मुस्कराहट फैला कर वह कहने लगा, ‘इसके तो कई अर्थ होते हैं।’

‘यह तो मेरे दिल से पूछिए कि मैं आपको क्या समझती हूँ।’

‘जिस आदमी के पास पैसे नहीं उसको तो कोई भी कुछ नहीं समझता।’ फीकी मुस्कराहट के साथ उसने अपनी बेबसी प्रकट करनी चाही और छिपानी भी चाही।

सामने से आते मोटर साइकिल की फ्लैश लाइट उन पर पड़ी तो वे एक ओर हट कर चलने लगे।

‘अच्छा! अच्छा!! ज्यादा बातें न बनाओ।’ अनुराधा ने प्यार से डाँटना चाहा। रोशनी से उनकी आँखें चौंधियाँ गईं। आकाश अपने दिल में बल खाकर रह गया कि शरारत के इरादे से रोशनी उनपर उछाल दी गई है।

‘सैर करने चलना है या बहन जी के घर’, अनुराधा ने बात का रुख बदल कर पूछा।

सहसा मोटर-साइकिल उनके पास आकर रुक गई।

‘भाई साहब, बी.डी.ओ. का घर किधर है?’

आकाश को लगा कि इसे बी.डी.ओ. के घर का तो पता है बस अनुराधा की निकट से झलक देखने या कोई वाक्य उछालने के लिए बहाना बना रहा है... यदि मोटरसाइकिल सवार के स्वर में विनम्रता न होती तो कुछ बताए बिना आगे बढ़ जाता।

‘यह मोड़ छोड़कर दूसरी नुक्कड़ पर दाएँ ओर वाला पहला घर उनका ही है,’ बता कर जल्दी से आगे बढ़ना चाहा, ऐसा न हो कि कोई दूसरा सवाल पूछ ले और आखिर में कोई ऐसा वाक्य उछाल दे जिससे उसके धैर्य का बाँध टूट जाए और वे तमाशा बन जाएँ।

गियर बदलने के बाद गर्दन मोड़ कर हाथ हिलाते हुए मोटरसाइकिल सवार कुछ बुदबुदाया तो आकाश को लगा कि कोई रिमार्क कस कर गया है।

गली में बँधी हुई भैंस ने पूँछ हिलाई तो उसकी चोट से बचने के लिए अनुराधा आकाश में धँस-सी गई।

मनुष्य को जब अपने चेतन में किसी कमजोरी या किसी कमी की फांस की चुभन का अहसास सता रहा हो तो अचेतन तौर पर लगता है कि उसी फांस को लेकर उसे हँसी का निशाना बनाया जा रहा है...। मोटरसाइकिल सवार को भैंस के कारण मोटरसाइकिल एक ओर करनी पड़ी होगी और बी.डी.ओ. के घर का तो पता ही पूछा था...उसके स्वर में आदमियत थी और गर्दन मोड़ कर हाथ हिलाते हुए आभार व्यक्त किया होगा।

जेब से रूमाल निकाल कर आकाश अपना चेहरा साफ करने लगा।

‘आपने बताया नहीं सैर करने चलना है या बहन जी के घर?’ आकाश नार्मल हो चुका था। रूमाल को जेब में रखते हुए कहने लगा, ‘बहन जी के घर जाना भी तो सैर करना है, हँसते हुए उसने अपनी बात जारी रखी, ‘हमारा उद्देश्य तो घर से बाहर आना था।’

‘एक दरबे से निकल कर दूसरे में ले जाना था तो बाहर आने की क्या आवश्यकता थी।’ शिकायत भरे स्वर में अनुराधा ने कहा।

‘सैर करने भी जाएँगे।’ आकाश ने गम्भीरता से कहा, ‘वह तो एक बहाना था। निर्मला भी कह रही थी, सैर करने जाना है तो बहाने की क्या आवश्यकता है।’

शाम को ही उसने घर में कह दिया था कि खाना खाने के पश्चात् वे बहन शीला के घर जाएँगे। संजीव सो गया तो वे तैयार होकर बाहर निकलने ही लगे थे कि पिताजी का चचेरा भाई उनकी मिजाजपुर्सी के लिए आ गया। जिससे कुछ देर के लिए उनको रुक जाना पड़ा। अनुराधा भी दो बार आँगन में चक्कर लगा गई। दस-पन्द्रह

मिनट पश्चात् वह यह कहकर उठ खड़ा हुआ, चाचा को सुनाने के लिए, 'हम बहन जी के घर जा रहे हैं।'...

'निर्मला से मेरी कोई बात नहीं हुई। तुमने ही उसे बताया होगा कि हम सैर को जा रहे हैं।...मैंने जानबूझ कर चाचा को सुनाकर कहा था ताकि रिश्तेदारों और मिलने-जुलने वालों में यह न कहते फिरें कि बाप घर में बीमार पड़ा है, साहब, बीवी को सैर करवाने के लिए निकल जाते हैं।'

'ऐसी-वैसी हालत होती तो हम आप ही न आते। उनकी हालत सम्भली हुई है। टैम्परेचर भी नार्मल है। ...और आज तो हमारे विवाह की वर्षगांठ है।'

'वे क्या जानें कि विवाह की भी वर्षगांठ होती है।' यह कहकर आकाश गली का मोड़ मुड़ने लगा। अनुराधा बोल पड़ी, 'इधर किधर?'

'शीला बहन के घर ।'

'बहनजी के घर से वापस ले आओगे?' निराशाजनक स्वर में शिकायत-सी करते हुए उसने कहा, 'कभी तो कोई इच्छा पूरी कर दिया करो।'

'पहले बहन के यहाँ हो लें, फिर सैर को चलेंगे।'

'हाँ, यह ठीक है।' अनुराधा की आँखों में चमक थी, 'नहीं तो सब बुरा मनाएँगे।'

...जब तक अनुराधा शीला के पास बैठी रही अपने वैमनस्य व पीड़ा को फीकी मुस्कराहट के परदे और बातों की ओट में छिपाने का प्रयास करती रही। सीढ़ियाँ उतरते उसे रूलाई-सी आ गई। 'इनसेल्ट करनी थी यहाँ लाकर '

आकाश को पहले अहसास हो गया कि उसकी बातें अनुराधा को अच्छी नहीं लगी हैं। उसे अपनी बेबसी को ऐसी बातों से व्यक्त नहीं करना चाहिए था। वह पर्यावरण को उदास और बोझिल नहीं बनाना चाहता था। हँसकर कहने लगा, 'यह जानना चाहती हो कि गुस्से में हसीन लगती हो या नहीं।'

'आप तो हर बात पर नशतर चुभाना जानते हैं।' पलकों में कतरे अटक गए।

'मेरा बस चले तो तुम्हारे कदमों में फूल बिछाता चलूँ ' होंठों तक यह वाक्य न ला सका कि उसके कारण अनुराधा को कांटों की सेज पर जीवन बिताना पड़ रहा है।

बातों ही बातों में आकाश ने शीला से कहा था, 'हम कुएँ तक सैर करने जा रहे हैं। आप उधर जाओ तो कह देना कि रेखा और प्रभा के पास बैठे हैं।' शहर में वाटर सप्लाई का प्रबन्ध नहीं हुआ था तो लोग इस कुएँ से पानी भर कर घरों में ले जाते थे। बात जारी रखते हुए कहा था, 'आज हमारे विवाह की वर्षगांठ है। आज के दिन कोई उपहार तो इसको नहीं दे सका कुएँ पर पहुँचकर कहूँगा, मुझे कुएँ में धक्का दे दो ।'

अनुराधा का मूड ऑफ हो गया था और बहन शीला ने डॉटते हुए नसीहत भरे दो-तीन वाक्य झाड़ दिए थे। अब वह बात को सँभालने की कोशिश कर रहा था, 'जीता-जागता, चलता-फिरता, अच्छा-भला इन्सान हूँ, पत्थर तो न समझो।'

'पत्थर ही तो हो ।' पलकों में अटके हुए आँसुओं को उंगली से पोंछ कर अनुराधा ने कहा, 'आज के दिन भी किस नहीं कर सके।'

प्रातः नीचे जाने से पहले अनुराधा ने उसकी चारपाई पर आकर खास अदा से अपने गालों पर उंगली रखकर दावत दी थी। आकाश उसको अपनी बाँहों में लेकर झुका ही था कि एकाएक अनुराधा के शब्द सुनाई दिए थे, 'विवाह की चौथी वर्षगाँठ की बधाई...।' उसकी पकड़ ढीली पड़ गई थी, जैसे सहसा कोई बुरा समाचार सुना दिया गया है ।

मचलते हुए अनुराधा ने कहा था, 'विवाह की वर्षगाँठ पर क्या उपहार दोगे ? कोई उपहार न सही, किसी रेस्तरां में जाकर आईसक्रीम और कोल्ड-ड्रिंक की दावत कर देना।'

उसने दूसरी ओर मुँह फेर लिया तो अनुराधा ने समझा शायद नाराज हो गए हैं। मनाना भी चाहा लेकिन उसने उत्तर दिया, 'सिर दर्द कर रहा है। नीचे जाकर तुम अपना काम करो।'

आकाश को यह अहसास कचोटने लगा था कि विवाह की वर्षगाँठ पर भी वह पत्नी की तुच्छ-सी इच्छा पूरी नहीं कर सकता। निश्वास-सा लेकर कहने लगा, 'अनु, इन दिनों बुद्धि पर ऐसा पर्दा पड़ा है कि महत्वपूर्ण बातों की ओर तो ध्यान नहीं जाता, अनावश्यक बातों को अनिवार्य समझने लगता हूँ। इस बात का भी अहसास है कि तुम्हारी कोख में नई जिन्दगी पल रही है। तुझे अच्छी खुराक के अतिरिक्त अच्छी बातों की भी आवश्यकता है।' यह कहते-कहते उसका गला रुँध गया।

गली के नल पर हाथ-मुँह धोते हुए उसने दो-तीन घूँट पानी पी लिया। रूमाल से मुँह पोंछते हुए अनुराधा के पास आया तो अपने को उसने ताजा महसूस किया। 'कुएँ वाली बात कहकर मैंने अपनी लाचारी को व्यक्त किया था। आज हमारे विवाह की वर्षगाँठ है। आज के दिन उपहार तो क्या देना तुझे एक आईसक्रीम भी नहीं खिला सकता।'

'खाने-पीने से कोई वर्ष-गाँठ मनाई जाती है?'

'ये तो अपने आपको धोखा देने वाली बातें हैं, अनुराधा !' आकाश के स्वर में भावुकता के बवंडर उठने लगे, 'यदि तुझे अपने अभावों और घुटन का अहसास ना होता तो तुम यह न कहतीं कि आप चाहो तो मुझे ही कुएँ में धक्का दे आना।'

'मुझसे गलती हो गई ।'

'इसमें तुम्हारी कोई गलती नहीं। कई बार सोचा करता हूँ कि तुम्हारे प्रति एक

पति के कर्तव्य पूरे करने में असमर्थ रहा हूँ। तुम्हारी बात का जवाब देते हुए मैंने अपनी बेबसी का जिक्र किया था। चार साल से तुम्हें कुँ में ही धकेल रखा है। बात की वास्तविकता को न समझते हुए तुमने सोच लिया कि शीला बहन के सामने तुम्हारी इनसल्ट कर रहा हूँ।’

सिगरेट पीने के लिए वह पेंट की जेबें टटोलने लगा। तीन-चार दिनों के बाद उसने पाँच सिगरेटें खरीदी थीं। अब भी वह पिताजी से छिपकर सिगरेटें पीता है।

‘समझने की कोशिश किया करो कि मैं तुम्हारे लिए कुछ करना नहीं चाहता या कर नहीं सकता? मेरी बात पर विचार करोगी तो...’

‘ऐसा कहकर आप क्यों शर्मिन्दा करते हैं। मुझे माफ कर दो।...’

यदि वे गली में न चल रहे होते या कहीं अकेले होते तो अनुराधा अपने अभावों और शिकायतों को भूल कर आकाश की छाती से लग कर आँसू बहाते हुए माफी माँगती।

चौड़ी सड़क पर तेरहवीं की चाँदनी और मर्करी ट्यूबों की दूधिया रोशनी भली लग रही थी।

आकाश के मुँह से दबी-दबी हँसी की आवाज सुन कर अनुराधा चौंक पड़ी, ‘आप हँस क्यों रहे हैं।’

‘हँस रहा हूँ कि घर में घूँघट निकाल रखा था, मुहल्ले में चल रही थी तो दुपट्टा सिर पर था अब सरक कर कन्धों पर आ गया है।’

‘यहाँ किसी का डर थोड़े ही है।’ अनुराधा ने चंचलता से कहा।

‘घर में डरती हो ?’

‘डरती नहीं। पिताजी से शर्म आती है।’

‘तुम्हारी फिलासफी भी खूब है।’

‘फिलासफी हो या न हो।’ अनुराधा चहक कर बोली, ‘किसी तरह हमने विवाह की वर्षगाँठ तो मना ली।’

‘इसको तुम विवाह की वर्षगाँठ कहती हो ?’ आकाश को अपनी लाचारी का अहसास कचोटने लगा। अनुराधा भी उदास सी हो गई।

‘कुछ चक्कर ही ऐसा चल रहा है। भाग्य ही साथ नहीं दे रहा है!’ आकाश बुदबुदाने लगा, ‘तीन महीनों से तनखाह नहीं मिली। समय पर तनखाह मिलती रहती तो आज भी पिछले वर्षों की तरह विवाह की वर्षगाँठ मना लेते।’

वे कोई समारोह या पार्टी नहीं करते थे। उस दिन वह अनुराधा को बीस-तीस का कोई साधारण-सा उपहार लाकर दे देता था। शाम को किसी रेस्तराँ में चले जाते थे या पिक्चर का प्रोग्राम बना लेते थे।

‘आपको तीन हजार के लगभग मिलेंगे न ?’

‘हाँ, यदि अफसरों की कृपा हो जाए तो ?’

‘मेरी एक बात मानोगे ?’

‘क्या ?’

‘पहले वादा करो न।’

‘झूठा या सच्चा।’

‘आप तो बाल की खाल खींचते हैं।’

‘बात जाने बिना कैसे वादा कर दूँ।’

‘वेतन मिलने पर आप अपने कपड़े सिलवा लेना।’

उसका हाथ अनायास ही कमीज के घिसे कालर पर जा पड़ा और खुली मोहरी वाली ऊँची पैंट का अहसास कचोटने लगा। निश्वास-सा लेकर बोला, ‘वे तो सिलवाने ही हैं।’

‘एक बात और ?’

‘क्या ?’

‘सर्दियों के लिए सूट का कपड़ा खरीद कर रख लेना।’

‘सर्दियों की सर्दी में देखी जाएगी। पता नहीं कौन सा डिजाइन चलेगा। घर की कुछ जरूरी चीजें लानी हैं। तुम्हारे कपड़े भी सिलवाने हैं।’

‘मेरे पास तो कपड़े हैं। आप खर्च सँभलकर हिसाब से करना, ऐसा न हो कि फिर किसी का मुँह देखना पड़े।’

‘हिसाब से खर्च करना तो अच्छी तरह आता है, तीन महीने से तनखाह न मिले तो हिसाब क्या करूँ। छुट्टी लेकर आया तो था बीमार पिताजी की सेवा के लिए लेकिन उनके सामने जाते हुए शर्म से पानी-पानी हो जाता हूँ। नंदन घर के सारे खर्चों के अलावा पिताजी की औषधियों और फल-फूल के व्यय का बोझ सहन कर रहा है। उसके दिमाग में कोई गलतफहमी पैदा हो सकती है। हरबंश और सोम के कपड़े भी चिथड़े हो गए हैं। दो-दो जोड़े तो इनके पास होने चाहिए।’

‘कपड़े तो उनके सिलवा देना। उन पर रौब भी रखा करो।’

‘मैं रौब नहीं रखता।’ आकाश को अनुराधा की मनोवृत्ति पर खेद होने लगा जिससे उसका मन खिन्न हो गया। फिर स्वर में सहजता लाने की कोशिश करते हुए कहने लगा, ‘यदि छोटे गलती करते हैं और हमारा आदर नहीं करते हैं तो दोष हमारा है, हमने कभी उनकी कोई इच्छा पूरी की है, वह प्यार दिया है जिसकी वे हमसे अपेक्षा करते हैं?’

‘सारा दिन तंग करते रहते हैं।’

‘किसी सीमा तक यह सब हम पर निर्भर करता है। यदि माता जी जीवित होतीं तो हम अलग हो जाते। अब तो इस बोझ को तुम्हें सँभालना है। तुम्हीं उनकी माँ और

भाभी हो। सुघड़ता से घर के काम करोगी तो सब तुम्हें अच्छा कहेंगे, सत्कार और मान भी होगा। कुढ़ते हुए काम करोगी तो इसका सिला कुछ नहीं मिलेगा। घर में क्लेश और झगड़ा रहेगा।’

अनुराधा कुछ न बोली तो कुछ क्षणों पश्चात् आकाश फिर कहने लगा, ‘पिताजी ने कुछ कहा हो या माता जी ने कभी कुछ कहा था बतलाओ...।’

‘माता जी के होते हुए मुझे कभी किसी चीज की कमी नहीं हुई थी। सख्त बीमार होते हुए भी हमें सैर को भेज दिया करती थीं। उनकी मौत के बाद तो एक छत के नीचे रहते हुए भी हम अजनबियों की तरह जीवन बिता रहे हैं।’

‘ठीक कह रही हो अनु! तबादला होने के बाद सातवें या पन्द्रहवें दिन आया हूँ! तो तुम से खुलकर बात करने की लालसा मन में ही लेकर गया हूँ। मेरे सीने में भी धड़कता दिल है, पत्थर का टुकड़ा नहीं। और अब छुट्टी पर आया हूँ तो हम बीमारों की सी जिन्दगी जी रहे हैं...।’

आत्मवंचना के लिए वह खोखला कहकहा लगा कर खामोश हुआ तो उलझनों और आकांक्षाओं की परछाइयाँ छलावे की तरह रंग-रूप बदलकर डराने लगीं। कुछ कदम चलने के बाद रुककर बोला, ‘वापस चलें।’

‘वापस चलो। आपने तो कुएँ तक जाने के लिए कहा था।’

‘जब तुम कोई बात नहीं करना चाहती तो चलकर क्या करेंगे।’

‘क्या बात करूँ ?’

‘कोई भी और नहीं तो कोई शिकायत ही कर लो।’

‘शिकायत तो करनी ही चाहिए। उचित हुई तो दूर करने का प्रयास किया जाएगा।’ आशा के प्रतिकूल अनुराधा का चेहरा उदास-सा हो गया।

‘तुम्हारी जगह आज मुझे बोलना पड़ रहा है। चुप रहोगी तो तुम्हारे मूँछें उग आएँगी।’

अनुराधा के चेहरे पर मलिन-सी मुस्कराहट उभर आई। ‘आओ लौट चलें!’ कुएँ की ओर इंगित करके कहने लगी, ‘अब तो हम इसमें एक दूसरे को धक्का भी नहीं दे सकते।’

‘कभी तो शुभ वचन बोला करो।’

अनुराधा की बात की परवाह न करते हुए कुएँ के चारों तरफ बनी दीवार की ओर इशारा करके कहने लगा। ‘यह दीवार बन गई है। अब इसमें आसानी से आत्महत्या भी नहीं हो सकती। यदि किसी ने आत्महत्या कर ली तो फूले धिनौने शव की कल्पना करके होस्टल की लड़कियाँ पानी पीना छोड़ देंगी। प्रोटेस्ट करने लगेंगी कि कुएँ का पानी बदला जाए। (कुएँ पर बिजली की मोटर फिट करके लड़कियों के नव निर्मित होस्टल में पानी पहुँचाने की व्यवस्था की गई थी।)

बात को बदलने के लिए अनुराधा ने कहा, 'पार्क तक हो जाएँ? पाँच-दस मिनट बैठ कर आराम करेंगे।'

'जैसी तुम्हारी इच्छा।'

आने-जाने वालों का सड़क पर तांता लगा हुआ था। आकाश ने धीरे से कहा, 'आईसक्रीम तो नहीं खिलवा सका। कैंपा ही पी लो।'

'पैसे सँभालकर रखो। दोस्तों पर खर्च करने के काम आएँगे।' कहते हुए अनुराधा की आँखें छलछला गईं।

पनवाड़ी की दुकान की ओर बढ़ते हुए उसके कदम रुक गए।

सुबह अनुराधा ने विवाह की वर्षगाँठ की बधाई दी थी तो वह बोझल हो गया था। उसने सोचा कि नन्दन से दस-पन्द्रह रुपए माँग लिए जाएँ कुछ देर तक वह सोचता रहा था। दोपहर को नन्दन खाना खाकर जाने लगा तो उसने बीस रुपए माँग लिए। नन्दन ने कुछ न कहकर बीस रुपए का नोट उसकी ओर बढ़ा दिया। नोट पकड़ते हुए उसे लगा था कि नन्दन ने बहुत कुछ कह दिया है।

अपने मस्तिष्क से तिरस्कृत भावना को निकालने के बाद वह सोचने लगा कि अनुराधा को कहेगा कि शाम को तैयार हो जाओ, कोई बहाना बनाकर रेस्तरां में चलेंगे।...वह सोच के भंवर से पूरी तरह निकला नहीं था कि उसके दोस्त व चार अन्य जान-पहचान वाले उसके पिताजी की मिजाजपुर्ती को आ गए। उनमें से एक ने ठंडा पानी माँगा तो उसने औपचारिकता से कोल्ड ड्रिंक पूछा तो कोल्ड ड्रिंक्स ही मँगवानी पड़ी।

पिताजी ने मामाजी को तार देने को कहा। दो दिन पहले ही उनको पिताजी की बीमारी के बारे में पत्र डाला था। पिताजी नहीं चाहते थे कि वे अधिक चिन्तित हों और अपने काम-काज का हरज करके जाएँ।

तारघर से वापस आते हुए वह उदास सा हो गया था और उसे अपने अन्दर कुछ टूटता और खण्डित होता महसूस हुआ था... उसने अपनी पसन्द की पाँच सिगरेट खरीदी थीं उसकी जेब में दो रुपए और कुछ पैसे रह गए थे। उसका मन चाह रहा था कि वह घर न जाय, सड़कों पर बाजारों में घूमता-फिरता रहे। कोई जान-पहचान वाला मिल गया तो उसके चेहरे से उसके मन की दशा जान गया तो कुरेदने या मंत्रणा के बहाने सुझाँ चुभोने लगेगा। इस ख्याल के आते ही वह अपने रास्ते हो लिया।

अनुराधा के साथ चलते हुए आकाश स्पष्टीकरण देते हुए कहने लगा, 'दोपहर के आए हुए मेरे दोस्त तो घड़े का सादा पानी पीकर खुश होते मेरे चार-पाँच दोस्तों में से कोई भी औपचारिकता के चक्कर में पड़ना पसन्द नहीं करता।'

'फिर ऐरे-नैरे के लिए कैंपा मँगवाने की क्या आवश्यकता थी।

'मैंने तो लोकाचारी की थी।'

‘आदमी की मनोवृत्ति और विचारों का पता दो-तीन बार मिलने पर चल जाता है।’

‘कई बार सदियाँ लग जाती हैं या कई बार चुप रहना पड़ता है!...’ चुप रह कर वह स्वयं से बतियाने लगा, ‘हमारे विवाह को चार साल हो गए हैं लेकिन हम एक-दूसरे को नहीं समझ सके ।’

पार्क में बच्चों, औरतों और लड़कों का इतना शोर था कि अच्छे-भले आदमी का सिर दुखने लगे। बैठने के लिए उचित जगह नजर न आई तो आकाश बोला, ‘संजीव जाग गया तो सबके नाक में दम कर देगा। आओ वापस ही चलें।’

अनुराधा बिना कुछ कहे वापस मुड़ पड़ी।

आकाश अनुराधा से कैंपाकोला पीने के लिए आग्रह करने लगा। पनवाड़ी की दुकान के सामने पहुँचकर बोली

‘आप भी पिँँगे न?’

‘पौने दो रूपये का कैंपा और पच्चीस पैसे की एक सिगरेट ले लूँगा।’

‘रहने दो। कल संजीव को कोई चीज दिलवाने के काम आएँगे। कोई खोमचे वाला आ गया तो तंग करेगा।’

‘उसके लिए पैंतीस पैसे हैं...।’

अनुराधा राजी न हुई तो आकाश मलिन-सी मुस्कराहट के साथ कहने लगा, ‘कुँँ पर आएँ हैं तो प्यासे क्यों जाएँ।’

प्याऊ से पानी पीकर वे सड़क पर आए तो उनके आगे-पीछे छोटी टोलियों के रैले आ-जा रहे थे। कुछ दबे-दबे स्वर से इधर-उधर निगाह दौड़ा कर बातें करते, कोई उनके पास से गुजरता तो चुप हो जाते। वे दोनों खामोश खोए-खोए इस भीड़ में चलते गए।

नुकूरई कहकहे सुनकर आकाश की सोच का सिलसिला टूट गया। सामने से चुस्त और आधुनिक इन्द्रधनुषी पहनावों में अल्हड़, चंचल लहर दिलफरेब अन्दाज में बढ़ती आ रही थी। उसने अनुराधा की ओर नजरें घुमाईं। वह जर्री की कढ़ाई वाले रेशमी सूट में उस इन्द्रधनुषी लहर का एक हिस्सा लगी। और उसे लगा अनुराधा उससे परे हटकर चलने की कोशिश कर रही है। उसे अपने कुलीग ग्रीवर के शब्द याद आ गए ‘परिश्रम, ईमानदारी और सत्यवादिता छोटे सिक्के हैं जो कभी-कभार ही चलते हैं।’ उसे महसूस हुआ कि छोटे सिक्कों का बोझ उठाए फिरते रहने के कारण उसका शरीर ही नहीं चेतना भी निढाल हो गई है। जिससे दो कदम चलने पर भी उसकी सांस फूलने लगती है।...पीछे से आए हुए लोग उससे आगे निकले जा रहे हैं। वह कभी भी उनके साथ नहीं मिल सकता...वह तो महज जिन्दा रहने की जिद्द पूरी कर रहा है...।’

सईद कथा

शैलेश पंडित

कच्छ का वह छोटा सा 'गाम' पिछले कई वर्षों से फैलकर बहुत बड़ा हो गया था। चारों ओर चुड़ैल-सी पसरी थीं, उजाड़ धरती की बाँहें। उन बाँहों की पकड़ से अरजण भाई बेतहाशा भाग रहा था। अरजण ही क्यों, सारा गाम भाग रहा था! ट्रक-के-ट्रक चले जा रहे थे, सूरत-बलसाड़ की ओर। अरजण के पास न तो इतनी मूड़ी¹ थी, न खीसे² में पैसा। ऊपर से कुनवा भी छोटा नहीं था दो औरतें, दो बच्चे, तीन बलदियाँ³ और खुद। जरा-सी चूक होती कि वह विशाल रण-प्रदेश⁴, यह चुड़ैल-सी धरती, इस कुनबे को अपने पंजों में दबोच लेती।

अरजण ने इतनी जल्दी हार नहीं मानी थी। वह तो अटल था, कि लोग जाते हैं तो जाएँ। किसने कहा कि सूरत में स्वर्ग उतर आया है? चारों दिशाओं से लोग उधर ही भाग रहे हैं तो इस धरती का रंग-रूप भी चीथकर रख देंगे। माह-दो-माह की बात होती तो वह भी चला जाता। उसके बाद कहाँ जाएँगे लोग? उससे तो अच्छा है कि यह रण-प्रदेश, जिसकी रेतीली जमीन का एक-एक कण जैसे अपना नाम पुकार रहा हो। बाकी भगवान की इच्छा। मेघराज आज नहीं तो कल जरूर बरसेंगे।

अरजण की यह हसरत उन दिनों पूरी न हुई। छोटी-सी खेती से उसे इतना मिल जाता था कि वह चैन से अपने परिवार को 'रोटली' खिला सके। लेकिन वर्ष-दर-वर्ष चलता हुआ दुकाल⁵। उधार से खरीदे गए बीयार⁶ हाथ भर छोड़-छोड़⁷ देकर खामोश हो गए। उधार चढ़ता गया। अरजण भाई आस-पास की मजूरी पर दिन काटने लगा। दुकाल में बड़े-बड़े खेडुत⁸ भी हिजरत⁹ कर गए तो अरजण के लिए सरकार के 'बाँधकाम' का ही सहारा रह गया। लेकिन वहाँ भी मजूरी मिलना क्या इतना आसान था? जाने कैसे होता था कि ठेकेदार अपने-आप कोई काम ही नहीं देता था। वहाँ काम पाने के लिए रुड़ा जैसे गुण्डों का सहारा चाहिए था। दिन भर काम के बाद 'माणस' पीछे दो रुपया 'कमाणी' और उसमें से भी रुड़ा को 'हफ्ता' देना होता था।

1. पूंजी, 2. जेब, 3. बैल, 4. रेगिस्तान, 5. अकाल, 6. बीज, 7. पौधे, 8. किसान, 9. प्रवास।

ऊपर से कुहाड़ी-पांवड़ा¹ की खरीदी अपने खीसे से करनी थी। हे भगवान! कितना था।

अरजण मन मसोसकर रह जाता था। लेकिन क्या करता? हंसा और मनसुख के साथ भोर में उठकर ठेके पर चल देता था। ऐसे में मनसुख को कहाँ छोड़ता? वह भी मुँह धोकर बापू के साथ हो लेता था और ठेके पर पहुँचकर सूनी आँखों से मिट्टी ढोते हुए मजूरों को देखता रहता था। मनसुख ठुनकता 'बापू हो, हूँ काम करूँ, एमाँ खोटू सूं?'...में काम करूँ, इसमें बुराई क्या है?... हाँ, बुराई तो नहीं है। अरजण सोचता कि छोकरा काम पर होता तो कमाणी थोड़ी बढ़ जाती। पर बाल-मजूरों को काम पर लेने की मनाही थी। रुड़ा चाहता तो ठेकेदार मनसुख को उमरदार बता सकता था। इसके लिए माणस पीछे केवल बारह आने मिलते। तो बारह आने ही सही। और मनसुख अगले दिन से काम पर लग गया।

हंसा कहती थी 'भारे आ काम नथ जोता।'...मुझे यह काम नहीं चाहिए।... यह काम भी न होता तो वे कहाँ जाती रत्तीबाई, उसकी दीकरी², पोता और बहू? तीन मील चलकर वे काम पर आते थे। अरसठ वर्ष की रत्तीबाई जब हाथ में मिट्टी का तगारा³ लेकर उचकती तो लगता था कि अभी तगारे समेत जमीन पर भहरा जाएगी। उसकी हथेली से लोहू निकलकर उंगलियों पर जम जाता था पर वह ना नहीं बोलती थी। और उसके जैसे अनगिनत लोग थे। फिर अरजण को ही कहाँ सुरखाब के पर लगे थे? वह कहाँ जाता? कोई 'ठोकाण' भी तो नहीं था।

मगर रुड़ा रजारी⁴? माणस पीछे दो रूपए की औकात ही क्या थी? फिर क्यों माँगता था वह हफ्ता? जरा भी उसके दया-माया नहीं थी। और एक दिन, जब दौरे पर 'मोटे' इंजीनियर साहेब आए तो अरजण ने सारे मजूरों के सामने उनसे तकलीफ बयान कर दी। कोई लाभ तो नहीं हुआ, उल्टे साँझ तक ढले रोका गया और मुँह पर एक 'लाफा' मारकर कह दिया गया कि अगले दिन से वह काम पर दिखाई पड़ा तो खैर नहीं। वह उसे जिन्दा जमीन में गाड़ देगा।

अरजण घर बैठ गया। अगले तीन दिनों तक वह लगातार चिन्तित रहा कि अब क्या करे? ठीक कहती है हंसा, कि कहीं और चलना चाहिए। पर कहाँ?...फिर वही सवाल। अरजण सोचता था, बहुत सोचता था।

और उधर लोग अनजान दिशाओं की ओर भाग रहे थे। अनगिनत ट्रक, टेम्पो, रिक्शा, खटारा सब दौड़ रहे थे। आदमी और पशुओं को टूँसकर एक-एक तिनके की आस में वे गाम छोड़ रहे थे कि जहाँ भी धरती पर ठौर मिले, जहाँ भी रोटाली-पाणी बदा हो, चलो, निकल चलो। कोई किसी की नहीं पूछता था। सब अपनी जुगाड़ में लगे थे। जीवा भाई समझा गया था कि अरजण, जाने दो सबों को, हम यहीं रहेंगे।

1. कुल्हाड़ी-पांवड़ा, 2. बेटी, 3. तसला, 4. गुण्डा।

मगर जीवा खुद ही भाग निकला। भागते लोगों को टकटकी लगाकर देखता था अरजण। किससे पूछता कि भाई कहाँ जा रहे हो? कोई जगह हो तो हमें भी बताओ!

उस दिन अरजण को बैठे-बिठाए ही रोजी मिल गई। तालुका¹ पंचायत का प्रमुख कह गया कि ठीक दो बजे गामड़े के 'कांठे'² जमा हो जाना। माणस पीछे दस रुपए मिलेंगे। कोई काम नहीं, पूछने पर बस इतना कहना कि दुकाल से कोई वांदा³ नहीं है। बहुत आराम है। सरकार की मेहरबानी है। ...अरजण ने सोचा, कह देंगे। भगवान, कैसी दुनिया है? आदमी का ईमान दस रुपए की खातिर? मगर जो सच है बोल दें तो कौन-सा पत्थर पिघल उठेगा? कौन दौड़ पड़ेगा कि सचमुच आराम हो जाए? कुछ हो-न-हो, पर कोई रुड़ा जैसा बदमाश चाकू लेकर फाड़ जाएगा।

दोपहर की कड़कड़ाती हुई धूप में गाम के किनारे सैकड़ों लोगों की भीड़। सबकी आँखों में एक ही इन्तजार था कि मिनिस्टर साहेब आ रहे होंगे। होंटों पर चन्द बातें थीं कि कोई वांदा नहीं।...पर दुपहर से सांझ हो गई। लोग उदास होकर लौट गए। अरजण बहुत थक गया था। तन से अधिक मन टूट रहा था। आखिर वह दिन भी खाली गया। मिनिस्टर साहेब आ जाते तो...।

ठीक कहती थी हंसा कि कहीं और चलना चाहिए।

मगर रतीबाई रुड़ा को हफ्ता देती थी कि नहीं? उसने तो किसी के सामने 'चूँ' तक नहीं की। फिर क्या हो गया था अरजण को? कौन-सा फर्क पड़ा था रुड़ा को? नहीं, रुड़ा से दुश्मनी मोल लेना ठीक नहीं था। हर कोई लूट रहा था तो रुड़ा को क्या पड़ी थी कि वह धर्मावतार बन जाता? रुड़ा को पैसा चाहिए था तो वह दे देता और अपने किए की माफी माँग लेता। बस, बात पूरी हो जाती।

सो अरजण ने माफी माँग ली। और अगली सुबह वह परिवार सहित बाँधकाम पर लौट गया। उसके भीतर थोड़ी गरमाहट आई। चलो, भगवान का शुक्र है।

केवल माणस की बात होती तो अरजण भाई कहीं भी जुगाड़ कर लेता। लेकिन मूंगे⁴ ढोरों का क्या करता? जहाँ तक आँखें जातीं, वहीं तक भुतैली धरती की बाँहें थीं। एक भी हरा तिनका दिखाई नहीं देता था। झाड़ों के पाँदडे⁵ बिन-बिनकर लोग खिला चुके थे। बाकी सूरज देवता की कोप-दृष्टि से जलकर भस्म हो गए थे। दूर से घरघराती ट्रकों की आवाजें सुनकर सारा 'गामड़ा' जाग उठता था। मगर धड़धड़ते हुए ट्रक रुकता तो 'आखी' बस्ती टूट पड़ती। सूखी-जली और रेतीली घास का एक-एक तड़खला⁶ उठ जाता था। पर यह भी कितनी बार हुआ? सरकार और स्वयंसेवी संस्थाओं के ट्रक मन में हूक जगाकर भाग खड़े होते। कई गामड़ों के बीच घास के छोटे-मोटे बाजार चल रहे थे। दो रुपए दिन की रोजी कमाने वालों के लिए

1. तहसील, 2. किनारे, 3. परेशानी, 4. मूंगे, 5. पत्ते, 6. तिनका।

चार रुपए किलो की घास! मालधारियों¹ के लिए भी यह बोझ बहुत मुश्किल था। गाम के नदी-तड़ाव 'बूंद भर पाणी' के लिए तरस रहे थे। दो मील पर एक कुआँ था। वही इस गाम की उम्मीद था, आँख था।

चारों ओर सरसराहट थी। मगर श्मशान का सन्नाटा भी। उड़ते हुए चील, कौवे और गिद्ध थे। खुले मैदान में 'कतलखाने' चल रहे थे। माँस का 'बेपार' हो रहा था। खाटकी² घर-घर घूमकर ढोर खरीद रहे थे। दो हजार रुपए में जिसे खेडुत हाथ न लगाने दे, ऐसे हीरे जैसे बलद खाटकी कहता था, जो मिले ले लो। नहीं तो सामने अरराकर मरेगा तो यह रहम पर भरोसा था, वे तब भी अड़े थे कि इन गूंगे जानवरों को बेचना, अपनी सन्तान बेचना है। कुदरत की जो भी इच्छा हो, करे। इन्हें खाटकी के हाथ? नहीं!

सुलेमान कई बार अरजण को बोल गया। पर अरजण टस-से-मस नहीं हुआ। जब भी सुलेमान घर आता, अरजण पत्थर हो जाता था। सुलेमान पड़ोसियों से कह गया कि अरजण अड़ीबाजी करता है। ढोर माँगो तो ऐसे देखता है, जैसे उसकी ही गर्दन पर कुल्हाड़ी चल रही हो। खैर, आज नहीं तो कल देगा। अपने से आकर दे जाएगा। सभी एक-न-एक दिन आएँगे।

खाटकी को ही देना होता तो अरजण क्यों तन तोड़ता? दिन तो भुतैला था ही और रात? जैसे चारों ओर आग लगाकर शान्त हो गई हो। उस झुलसती शान्ति के बीच अरजण हंसा को 'वासण' पकड़ाकर पाणी के लिए भेज देता था। और स्वयं देर रात तक, दरिया से जंगली पौधे चुनने चल देता था।

उस रात काम से लौटने पर उसने लालटेन जलाई और सरमण को आवाज दी, कि वह चारे के लिए साथ आए। लेकिन देवी की बात सुनकर अचरज में पड़ गया कि सरमण काम से गया है। भला किस काम से गया होगा वह? उसने अच्छा नहीं किया। अरजण ने देवी को बरजती आँखों से देखा। देवी ने सिर झुका लिया। वह दरिया की ओर निकल गया। लेकिन भीतर की घबड़ाहट बढ़ती गई कि मालिक खैर करना।...खैर नहीं हुई। अन्ततः वही हुआ, जिसका डर था।

कच्छ के छोर पर पाकिस्तानी सरहद से मिले हुए इलाके में घास के जंगल हैं। सरमण कई दिनों से सोच में था कि वहाँ से घास लेने का जुगाड़ हो जाए तो कुछ दिन चैन से बीते। अरजण ने मना कर दिया कि वहाँ जाना ठीक नहीं। पता नहीं, कौन सी मुसीबत आए! सरहदी एरिया में जाने की सख्त मनाही है।

लेकिन उस रात सरमण चुपचाप निकल पड़ा।

और उस दिन उसकी 'माटी' उठ गई। वह सरहद पर भागते हुए दाणचोरी³ के

1. पशु रखने वाला, 2. कसाई, 3. तस्करी।

सन्देश में मारा गया। अरजण पर जैसे आसमान टूट पड़ा। उसने जगह-जगह बयान दिया। घणी लिखा-पढ़ी हुई। तब जाकर लाश मिली। मगर तब भी पुलिस को यकीन बना रहा कि वह कोई पेशेवर दाणचोर था।...

सरमण चला गया। लेकिन अपने पीछे देवी को छोड़ गया। गोद में बच्चा भी। अरजण कैसे मुँह फेर लेता? कैसे अनदेखा कर देता? छोटा भाई ही तो था। अपना ही खून। देवी तो रो-रोकर बेहाल हो गई। पर अरजण कहाँ बैठकर आँसू बहाता? पापी पेट से फुरसत ही कहाँ थी? काम में ढील होती तो वह रोजी भी हाथ से निकल जाती। सो मनसुख के साथ वह काम पर निकल गया और देवी को हंसा के हवाले छोड़ता गया कि मुसीबत की मारी बेवा, पता नहीं अकेले में क्या कर बैठे!

उस सांझ भूरा बलद रंभाकर गिरा तो अरजण सिर से पैर तक काँप उठा कि अब यह नई मुसीबत कैसे सहे? खाटकी को पता चला तो भागा आया कि अभी भी समय है, अरजण चाहे तो कुछ कमा ले।

पर उस दिन अरजण की आँखों में एक निर्णय था कि यहाँ अब और नहीं। वह लपककर उठा और दो सौ रूपए में खेत बन्धक रख आया कि तकदीर ने साथ दिया तो लौटकर मय ब्याज के रकम चुका देगा। एक फसल से भी बहुत कुछ निकल जाएगा। उसका क्या है? मालिक के करम से अमृत बरसे तो साल भर में अपनी धरती पर लौट आएगा। कौन हमेशा के लिए जा रहा है?

अरजण हार गया था। रात के सन्नाटे में खटारे पर अपनी गिरस्ती लादने लगा, गाम से भागने लगा। पीछे छुटता हुआ गामडा, रेतीली भूमि, भुतैले खेत सब आँखों के आगे आ रहे थे। अरजण आगे की ओर देख रहा था सड़क की ओर, मील के पत्थरों की ओर। उसे आगे जाना था। अभी और आगे, अभी और।...

दो घंटे बाद गाँधीधाम की सीमा दिखाई पड़ी तो उसका जी और धक्-धक् कर उठा। यह क्या? शहर के बाहर दूर तक ट्रकों का काफिला था। एक के पीछे एक। पता चला, शहर में ढोर ले जाने की मनाही है। दूर तक शहर सोया पड़ा था। मगर सड़कें जाग रही थीं। आँखें जाग रही थीं। उन आँखों का जागना नापसन्द कर रहे थे आँकट्राय वाले।

उस नापसन्दगी से बचकर निकलने के हजार रास्ते थे। जो जैसा आजमा ले। लोग मूल सड़क छोड़कर आँकट्राय के पीछे से शहर में प्रवेश कर रहे थे। अरजण उनके पीछे चल पड़ा। पूछने की जरूरत नहीं थी कि कहाँ जाना है? भीड़ का रेला चला जा रहा था। बस, पीछे चलते जाओ। एक बार प्रवेश मिल जाए तो मजबूरी थी कि इन्हें छोड़ो। बाकी नए आने वालों को रोको। पर कोई रुकता नहीं था।

सड़क पर दूर तक बाँधे गए झोपड़ों की कतारें थीं। खुले आसमान के नीचे

सोने वाले लोग थे। बेहिसाब बँधे हुए पशु थे। बस यहीं, जहाँ भी खाली जगह दिखे, डेरा जमा लो। सब डेरा जमा रहे थे। अरजण ने एक किनारे खूँटा गाड़कर बलदियों को रस्सी से बाँध दिया। फिर उन्हें पुचकार कर पास में पथारी¹ डाल दी कि अब आराम से सो जाओ। अभी बहुत रात है। सुबह उठकर देखेंगे। कहीं से रोटली-पाणी ले आएँगे।

सुबह हुई तो 'दातण-संडास' से निबटकर, अरजण पास की दुकान से नाश्ता ले आया। आधा हंसा और देवी की देकर, मनसुख के साथ खाने बैठ गया। फिर बच्चों को फुसलाकर, दोनों बैराओं² को आस बँधाकर, डेरों को दुलराकर वह बाजार की ओर निकल गया कि घणी दुकानें हैं। वह कहीं भी मजूरी कर लेगा।

दुकानें एक-एक कर आती गईं। मगर अरजण की हिम्मत जवाब दे गई। किससे बोले, क्या बोले? सब देखकर चौंक उठते थे कि ग्राहक आया है आओ वडिल³ आओ।...उन्हें क्या पता कि वडिल को क्या चाहिए! अरजण हाथ उठाकर आगे बढ़ जाता था। पर ऐसे तो काम कहाँ चलता। साहस जुटाकर उसने एक दुकान की ओर देखा। लिखा था पटेल एँड संस। बस यहीं, बात करनी चाहिए। पटेलिया माणस है। जरूर मुसीबत समझेगा।

अरजण दुकान में जा खड़ा हुआ। और बिना पूछे, एक साँस में कह गया कि वह दुकाल का मारा कच्छ से आया है। नात⁴ भाई है। कोई रोजी चाहिए। कोई भी काम। ईश्वर बरकत देगा।...दुकान-मालिक ने उसकी ओर क्षण भर देखा। फिर ग्राहकों में लग गया। अरजण को विश्वास हो गया कि ग्राहकों को निबटाकर कुछ पूछेगा। कोई काम निकालेगा। मगर ग्राहकों के जाते ही मालिक ने उसे दुकान से बाहर खदेड़ दिया।

खैर कोई बात नहीं। ईश्वर सचमुच बरकत दे मेरे भाई को। अरजण दो-चार दुकानों के बाद फिर एक जगह जा खड़ा हुआ। दो-दो बार वही बात दुहराने पर भी दुकानदार कुछ नहीं बोला तो अरजण 'हत्तरे की, तारा भला हो' कहता हुआ आगे बढ़ गया। एक और दुकान...फिर एक...फिर आगे। किसी ने हिजरती लोगों को चोर-उचक्का कहकर भाषण झाड़ दिया तो किसी ने मसखरी की कि पटेल, पहले दुकान पर निगाह डालो फिर बात करो। यहाँ पढ़े-लिखे घरों की बहू-बेटियाँ आती हैं। तुम उनसे कैसे बात कर सकोगे।

वह दो बजे तक खाली हाथ लौटा। अंटी में जो भी पैसे थे, उनसे 'रोटली-शाक' और बलदियों के लिए थोड़ी घास ले आया कि साँझ को फिर निकलेगा। भगवान जरूर कोई ठेकाणा जोड़ेगा। लेकिन साँझ को वह निकलने से कतरा गया कि कहाँ

1. बिस्तर, 2. औरतों, 3. श्रेष्ठ, 4. जाति।

जाए? उसने खीसे में पड़े चन्द नोट टटोले और उलटकर सो गया। मैदान में जगह-जगह चूल्हे जल गए थे। हंसा-देवी बैराओं में बतिया रही थीं। बच्चे, बच्चों से मिलकर खेल रहे थे। अरजण सोचता रहा कि वह किससे बोले-बतियाए? किसके पास जाए?

अँधेरा होते ही लोग अपने चूल्हों के पास सिमट गए। बैराओं-बालकों में खो गए। किसी ने किसी को नहीं पूछा। हंसा और देवी लौटकर उसे ताकने लगीं कि वे क्या करें? उन्हें क्या करना चाहिए?

अरजण रात भर सोचता रहा। अगले दिन मुँह-अँधेरे उठकर, उसने झाड़ू-कापड़ लिया और लोगों से पूछकर हवेली-गली की ओर निकल गया। जैसे ही दुकानों के शटर उठे कि वह एक दुकान में बिना पूछे घुस गया और मालिक को 'भोले शंकर' कहकर दनादन झाड़ू-पोछा मारता हुआ, अगली दुकान की ओर बढ़ गया। एक-दो, दस-बीस...तीस दुकानें। किसी ने पूछ-परछ की तो उसने आकाश की ओर हाथ उठा दिया कि भगवान पर विश्वास रखो। हम भी उसी के बन्दे हैं।..फिर अगरबत्ती सुलगाकर दुकानों में लगा आया। और एक बार फिर 'भोले शंकर' कहता हुआ, डेरे की ओर लौट पड़ा।

रोज का यह धन्धा हो गया। लोगों ने कहा कि वह कोई पहुँचा हुआ सन्त माणस है। दुकान में पैर रखते ही 'बौनी' शुरू हो जाती है।..

और एक दिन, दुकान पीछे पाँच-पाँच रुपए उसकी हथेली पर आ गए, कि वह नियम से दुकानों में 'पग' दे जाया करे। अरजण खुश हुआ कि चालीस-पचास रुपए अगरबत्ती के निकाल दें तो भी सौ रुपए महीने की रोजी तो हो गई।

लेकिन एक तो बेशुमार खाली वक्त, और ऊपर से इतने सारे पेट। उसे लगा कि कुछ और भी करना होगा। रुपए हाथ में आए तो उसका दिमाग चकरधिन्नी की तरह काम करने लगा। क्या करे? कहीं शाक-भाजी लेकर ही बैठ जाय? कि पान-बीड़ी की दुकान लगाए? नहीं, पान-बीड़ी नहीं, केवल बीड़ी-सिगरेट सूखा सौदा है। गलने-सड़ने का डर नहीं रहेगा। 'भरती' बनी रहेगी।

बीस-पच्चीस रुपए खाने-पीने के निकालकर, वह माल पर भरती लगा आया। फिर उसे लेकर कचहरी के चौराहे पर एक ओर जा बैठा कि यहाँ उसके जैसे बहुत-से लोग हैं। यही जगह 'बराबर' रहेगी। अदालत की नाक के नीचे कोई हैरान-परेशान भी नहीं करेगा। उसमें कमाल की वाक-चातुरी आ गई थी कि कोई एक बार दुकान की ओर मुँह उठाता तो कुछ देकर ही जाता। मीठी बोली-बानी का असर था। मीठा बोलो तो दुनिया में सरबस है। नहीं तो मुँह पर जूता है।

साँझ को डेरे पर लौटा तो माल की भरती काटकर भी उसके हाथ में बारह रुपए बीस पैसे थे। अरजण खुश हुआ कि चलो, अभी तो पहला दिन है। आगे

कमाणी बढ़ती ही जाएगी। दोनों जगहों को मिलाकर वह पाँच-छ, सौ महीने में पीट लेगा। पता नहीं, कब तक रहना हो! एक झोपड़ा तो बाँधना ही पड़ेगा। देवी को सतत ताव¹ रहता है। खुले आकाश के नीचे सोना अच्छा नहीं है। जब से सरमण गया है, देवी कैसी हो गई है?

कई दिन हो गए। अरजण झोपड़े में लगने वाले सामानों का बाजार देख आया था। उँगलियों पर हिसाब लगाता था कि अभी नहीं, अभी दस दिन और। फिर हाथ में इतने पैसे आ जाएँगे कि कोई चिन्ता नहीं रह जाएगी इतना रुके हैं तो थोड़ी और सही।

मगर जहाँ माल है, वहाँ 'माखी' भी तो होगी। पुलिसिए सुबह से चक्कर काटने लगते थे। अरजण सोचता था कि ले जाएँ जो उनकी तकदीर में है। किसी तरह रोजी बनी रहे, यही बहुत है। जैसे ही पास से कोई वर्दी गुजरती, वह 'नमस्ते' ठोंककर अदब से सिगरेट पकड़ा देता था।

और एक दिन, एक ठेले वाले से किसी पुलिसिए का लफड़ा हो ही गया। आनन-फानन में सारे ठेले, सारी दुकानें और दुकानदार कोतवाली में भर दिए गए कि यहाँ दुकान लगाना गैरकानूनी है। एक तो हिजरती गलत काम करते हैं, ऊपर से साले जुबान लड़ाते हैं।

वे एक अठवड़िया तक 'अन्दर' रहे। जमानत कौन लेता? वहाँ कौन था, जो दया दिखाता? हिजरती लोगों के पास इतनी दम कहाँ थी? कोई से मूडी न खीसे में पैसा। हंसा हवेली-गली की दुकानों तक कई बार जाकर लौट आई थी। अपना दुखड़ा बता आई थी कि उनका 'सन्त' किस गुनाह में वहाँ पड़ा है। कोई सेठ बाबू मदद कर दे। लेकिन कोशिशें नाकाम गईं। किसे फुर्सत थी कि पुलिस के चक्कर में फँसता?

चार-पाँच दिनों तक उन्होंने भूख-प्यास बरदाश्त की। फिर एक रात हंसा को घर से निकलना ही पड़ा।...

अदालत में पेशी हुई तो अरजण औरों की तरह छोड़ दिया गया। मगर माल असबाब लूट-खसोट में निकल गया। उस दिन मन नहीं हुआ कि वह लौटकर डेरे पर जाए। शहर की गली-सड़कों पर वह जाने कहाँ-कहाँ भटकता रहा था! रात जब काफी उतर आई और मटरगश्ती के दायरे तंग जान पड़े तो वह भहराए तन से डेरे की ओर लौट पड़ा। 'घर' पहुँचा तो देवी बच्चों के साथ उनींदी पड़ी थी। हंसा कहाँ गई, उसने यह भी नहीं पूछा! चुपचाप चादर डालकर मैदान में लेट गया। सारी रात वह आकाश को बेबस आँखों से देखता रहा।

हंसा भोर में लौटी तो उसकी हथेली पर चन्द्र रूपए थे। मगर आँखों में खुशी

1. बुखार।

थी न गम। जाने कहाँ मर गया था उसका चेहरा! हंसा चुप थी। अरजण ने भी कोई बात नहीं की।

अरजण हवेली-गली की ओर फिर कभी नहीं गया। न ही कचहरी के चौराहे पर बैठा। पता नहीं, कैसा मन हो उठा था उसका, कि कुछ करने के नाम पर उसका सारा उबाल खत्म हो चुका था! दिन-दिन भर वह खुले मैदान में बीड़ियाँ फूँकता रहता। हंसा रातों को खटकर रोटीली-पाणी का जुगाड़ करती रहती। और एक दिन जब वह भी, उसके निठल्लेपन पर बरस पड़ी तो उसका मन हुआ कि दौड़कर कहीं जान दे दे। किसी मोटर के नीचे आ जाए या नदी-तड़ाव देख ले। मगर यह भी करने से क्या होगा? क्या मरकर भी वह 'मर' पाएगा?

खैर जो हुआ, जो हो रहा है, सब माणस की मेहरबानी है। उसका क्या वश? कौन-सी कोशिश छोड़ी उसने? मगर ये माणस? दूर तक फैले हुए माणस! सरकारी इमारतों से लेकर ऊँचे मकानों तक बसने वाले माणस! सड़क पर घूमते हुए माणस! अभी भी वक्त है। अगर वह न चेता तो ये हिजड़े, उनकी बोटी-बोटी नोच खाएँगे। उसकी बोटी, उसके बच्चों की बोटी, देवी की बोटी। हंसा की बोटी तो खा ही रहे हैं लोग। मगर अब और नहीं।...

उस रात हंसा बच्चों को खिलाकर जाने लगी तो अरजण ने पूछ ही लिया कि वह कहाँ जा रही है? और इसके पहले कि हंसा कुछ बोले, उसने चूल्हे की अधजली लकड़ी उठा ली 'साली कुतरी, टांटिया', तोड़कर रख दूँगा।'...फिर वह भूरे बलद की खूँटे से छोड़कर जाने किस ओर चला गया!

उस रात खाटकी के हाथों उसने 'भूरे' की कुर्बानी दी। और 'सईद अली' बनकर मुस्लिम बस्तियों में माँस बेचने लगा 'बड़े मियाँ, बे२ रुपए किलो, बाछा बलद का माँस...।'

1. टॉग, 2. दो।

रिलीफ नीरज सिंह

‘दो रुपए का सरसों का तेल, दो रुपए की चीनी, एक रुपए का आलू और पचास पैसे का प्याज। कुल मिलाकर पाँच रु. पचास पैसे, यानी साढ़े पाँच रुपए। यह रहा आपका हिसाब और यह रही मुफ्त की बीड़ी। क्यों, ठीक है न पंडित जी?’ बजरंगी साह ने सामने खड़े ग्राहक की ओर बीड़ी बढ़ाते हुए कहा, ‘पैसा नकद दे रहे हैं या हिसाब में डाल दूँ?’

‘ये दो रु. तो नकद ले लो और बाकी हिसाब में डाल दो,’ पंडित दीनानाथ ने होंठों के बीच बीड़ी दबाते हुए कहा, ‘लगे हाथ यह भी बता दो भइया कि मेरे ऊपर अब तुम्हारा कुल कितना चढ़ाऊ है। और हाँ, जरा माचिस तो देना।’

बजरंगी ने माचिस की डिबिया पंडितजी की ओर बढ़ा दी। सामने पड़ी उधार खाते वाली बही को हाथ में लिया और ध्यान से पन्ने आगे-पीछे पलटने लगा। तभी उसकी नजर हाथ में कटोरा लिए खड़ी राधो की माई पर पड़ी। बस, उसने एकदम से बही बन्द कर दी और झुंझलाकर बोला, ‘पंडित जी कल बता दूँगा।’ पंडित दीनानाथ ने दुकान से बाहर निकलते हुए कहा, ‘कल फिर मुझे याद रहे न रहे। खैर, जैसी तुम्हारी मर्जी...’

‘जैसी तुम्हारी मर्जी,’ बजरंगी ने दीनानाथ की बड़ी सफाई से नकल उतारी और भुनभुनाया, ‘जितनी चुस्ती हिसाब-किताब देखने की रहती है, उसकी आधी भी अगर उधार चुकाने में होती तो एक बात भी थी। तब तो बस दाँत निपोर देंगे। उसकी तो हाथ बहुत तंग है सेठ, थोड़ी मोहलत और दो!’

‘आटा होगा बबुआ?’

‘हाँ-हाँ, है क्यों नहीं चाची, बहुत है बोलो कितना दे दूँ,’ राधो की माई की आवाज सुनते ही बजरंगी की सारी झल्लाहट एकबारगी हवा हो गई। बड़े ही आत्मीय स्वर में बोला, ‘दुकान में न रहे तो घर से लाकर दूँगा चाची। तुम्हारे लिए क्या है, बिलकुल घर की बात है।’

‘ठीक है, सेर भर तौल दो बबुआ। क्या भाव दे रहे हो?’

‘तीन रु. बीस पैसे किलो,’ बजरंगी ने कहा और आटा तौलने लगा, ‘अब चीजें किलोग्राम में बिकती हैं चाची। एक किलोग्राम सेर से कुछ ज्यादा होता है। लेकिन उसे चलते हुए भी तो अब बहुत दिन हो गए चाची, तुम कैसे अब तक सेर-छटांक के फेरे में पड़ी हुई हो?’

‘हमारी जिन्दगी तो सेर-छटांक कहते-सुनते ही कट गई, बबुआ,’ राघो की माई ने आँचल में बँधे हुए पैसे खोलते हुए कहा, ‘अब कीलो-वीलो की समझ अगले जनम ही आएगी। वैसे भी सेर-दो सेर खरीदने की नौबत हमेशा तो आती नहीं। बाढ़ नहीं आती तो तुम्हारे यहाँ मैं आटा खरीदने थोड़े ही आती। इस समय तो मकई-जोन्हारी से घर भरा रहता।’

बजरंगी ने बात आगे नहीं बढ़ाई। इस समय गाँव में चारों ओर बाढ़ और उसके परिणामों की चर्चा ही दिन-रात हो रही थी। खेती करने वाले लोग फसल बर्बाद हो जाने के कारण चिन्ता में डूबे नजर आते। जिनकी खेती नहीं थी, वे इस कारण परेशान थे कि मोटा अनाज गाँव में नहीं मिलने की स्थिति में अब चावल-गेहूँ जैसे महँगे अनाज खरीदना और खाना उनकी मजबूरी हो गई थी। बाढ़ से जुड़ी एक अन्तहीन चर्चा का दौर शुरू हो गया था। इस चर्चा में गाँव का हर आदमी चाहे-अनचाहे शामिल था। लेकिन, ये बातें फुरसत के समय की थीं। बजरंगी के लिए यह धन्धे का समय था। लेकिन, उसकी निगाह नए आनेवाले ग्राहकों पर भी थी। राघो की माई से पैसे लेकर उसने गल्ले में डाल दिए। आटा सने हाथों की झाड़ने के बाद वह सामने खड़े ग्राहक से मुखातिब हुआ, ‘हाँ तो तुम्हें क्या चाहिए बिरजू भइया?’

बिरजू और बाकी के ग्राहकों को निपटाने के बाद बजरंगी को ख्याल आया कि दिन अब काफी चढ़ आया है और अभी तक उसने मुँह भी नहीं धोया है। दुकान में खुलनेवाले घर के दरवाजे के सामने जाकर वह ऊँची आवाज में चिल्लाया, ‘शंभू... शंभुआ है रे...बहरा हो गया क्या रे? अभी तक दतवन-पानी देने की भी सुध नहीं है ससुरो को...।’

‘का हो बजरंगी सेठ, का हाल-चाल है।’ यह श्याम बाबू की आवाज थी। श्याम बाबू, यानी बाबू श्याम बिहारी सिंह, गाँव के सबसे बड़े जोतदार बाबू राम बिहारी सिंह के सबसे बड़े बेटे थे। आसपास के दस गाँवों के लोग उसे रंगबाज मानते थे। गाँव से थोड़ी दूर होकर गुजरनेवाली सड़क पर चलने वाली सभी बसों के ड्राइवर-कंडक्टर उनके नाम से थर-थर काँपते थे। किसी की क्या मजाल कि श्याम बाबू से भाड़ा माँग ले। और नहीं तो पाँच-दस रु. हफ्तावारी भी देते थे।

‘सब आपकी दया है सरकार,’ बजरंगी ने हाथ जोड़ दिए, ‘कहिए, कैसे कृपा की!’

‘किरपा-विरपा कुछ नहीं सेठ’, श्याम बाबू बजरंगी की चौकी पर विराजमान हो

गाए, 'घर में चीनी नहीं थी, सो बाबू ने कहा कि जाकर पूछो बजरंगिया से कि कोटा आया है कि नहीं।'

'अभी तो कोटे की चीनी नहीं आई है सरकार...'

श्याम बाबू हँसे, 'यह तो हमें मालूम है भाई। कोटे की चीनी और किरासन गाँव में बाँटने के लिए थोड़े ही मिलता है। सब तो मिलने के साथ ही खतम हो जाता है। खैर, तुम बाँटो या ब्लैक करो, इससे हमें कोई मतलब नहीं। हमें तो चीनी चाहिए। अब तुम चाहे जहाँ से दो।'

'अभी लीजिए सरकार,' बजरंगी ने दाँत दिखला दिए, 'दो किलो दे देता हूँ। अभी काम चलाइए, बाद में फिर देखेंगे।'

श्याम बाबू के जाने के बाद बजरंगी फिर भीतरवाले दरवाजे के पास गया, 'काहे रे शंभुआ...तुमको सुनाई देता है कि नहीं...'

शंभू बाहर के बरामदे में खड़ा था। वहीं से बोला, 'कब से दतवन पानी लेकर मैं खड़ा हूँ यहाँ...तुम्हें कुछ खबर हो तब न...जब देखो तब चिल्लाने लगते हो।'

बजरंगी ने कुछ नहीं कहा। चुपचाप बाहर बरामदे में चला आया। दतवन अभी उसने मुँह में डाली ही थी कि सामने से चले आ रहे जगोसर ने उसे सूचित किया, 'मुखिया जी ने तुम्हें बुलाया है बजरंगी भाई। जरा जल्दी ही आ जाना।'

बजरंगी ने माथा ठोंक लिया। बोला, 'बस आ ही रहा हूँ भइया।'

मुखियाजी, यानी पंडित बैकुंठ भिसिर को उनके परिवार वालों के सिवा बहुत कम ही लोग 'मुखियाजी' कहते थे, इलाके भर के लोग उन्हें 'बाबा या महाराज जी' कहकर ही संबोधित करते। जमाने से उनके खानदान के लोग पूजा-पाठ कराने का काम करते आ रहे थे। नए जमाने के साथ-साथ उनके परिवार के लोगों की रुचि इस पेशे से दूर होती जा रही थी। फिर भी, प्रत्येक पीढ़ी में कोई न कोई ऐसा निकल ही आता, जिसे मजबूरन ये पेशा अपनाना पड़ता। फिलहाल उनके पिताजी जीवित थे, जो अपने बड़े बेटे की मदद से घर-गिरस्ती के दूसरे कामों के साथ ही इस परम्परा को भी निभाते जा रहे थे। मुखियाजी भाइयों में सबसे छोटे थे। मुखियाजी ने खुद संस्कृत में एम.ए. किया था। पढ़ाई-लिखाई समाप्त होने के बाद कुछ दिनों तक वह बगल के कस्बे के हाईस्कूल में संस्कृत शिक्षक भी रहे थे। लेकिन, जल्दी ही उनका जी मास्टरी के पेशे से उचट गया और वह देश और समाज सेवा की भावना से सक्रिय राजनीति में शामिल हो गए। फिलहाल वह गाँव के मुखिया होने के साथ ही शासक पार्टी के प्रखंड संगठन के अध्यक्ष भी थे। इधर पिछले ही वर्ष उन्होंने एक संस्कृत हाईस्कूल भी खोला था, जिसकी प्रबन्ध समिति के वह सचिव थे। अध्यक्ष उन्होंने बाबू रामबिहारी सिंह को बनाया था।

भिसिर जी का मुखिया चुना जाना महज एक संयोग ही था। उनके पूर्व बाबू

गंगाशरण सिंह मुखिया हुआ करते थे। वह बाबू रामबिहारी सिंह के पिता थे। आजादी के पहले वह गाँव के जमींदार थे। जब जमींदारी समाप्त हो गई और पंचायती व्यवस्था कायम हुई, तो अपने प्रभाव और जोड़-तोड़ से वह मुखिया बन गए थे। जब तक वह जिन्दा रहे, निर्विरोध मुखिया बने रहे। अभी दो बरस पहले उनका निधन हुआ था। उनकी मृत्यु के बाद लगभग छः महीने तक तत्कालीन उप-मुखिया रामबुझावन महतो कार्यकारी मुखिया बने थे। पुनः जब पंचायत के चुनाव की घोषणा हुई, तो मुखिया पद के लिए दो उम्मीदवार सामने आए रामबिहारी सिंह और उनके सगे चाचा रामशरण सिंह। बाबू रामशरण सिंह का कहना था कि चूँकि अब वही जमींदार परिवार के सबसे बुजुर्ग सदस्य हैं, इसलिए मुखिया पद उन्हें ही मिलना चाहिए। दूसरी ओर रामबिहारी सिंह का विचार था कि चूँकि वह अपने पिता के एकमात्र उत्तराधिकारी हैं, इसलिए मुखिया उन्हें ही होना चाहिए। कार्यकारी मुखिया रामबुझावन महतो जमींदार परिवार के पुराना खैरखाह थे। उन्होंने इस लड़ाई को टालने का प्रयास किया। अन्त में दोनों पक्ष अपना दावा इस बात पर छोड़ने के लिए राजी हुए कि गाँव के सबसे पढ़े-लिखे व्यक्ति को यह पद सौंप दिया जाय। पंडित बैकूठ मिसिर उस समय स्कूल मास्टरी के साथ-साथ स्थानीय राजनीति में भी हाथ-पैर मार रहे थे। पिता के पुराने और खुशहाल जजमान रामबुझावन महतो के प्रयास और मुखिया पद के दोनों दावेदारों के आशीर्वाद ने उन्हें न केवल मास्टरी के उबाऊ पेशे से मुक्ति दिला दी वरन् गाँव का नया मुखिया भी बना दिया। मुखिया बनने के बाद से उनकी राजनीतिक प्रतिभा का असाधारण विकास हुआ था और लगभग आधे गाँव को उन्होंने आपसी मुकदमों के जाल में फँसा दिया था। रामबुझावन महतो के वह हृदय से आभारी थे, जिसके परिणामस्वरूप वह अब भी उप-मुखिया के पद को सुशोभित कर रहे थे। यह दूसरी बात थी कि फिलहाल वह अपने एक पट्टीदार की हत्या के आरोप में कारावास भुगत रहे थे और जमानत पर छूटने का प्रयास कर रहे थे।

बजरंगी जब मुखिया जी के दरवाजे पर पहुँचा, तो वहाँ रोज जैसी ही भीड़-भाड़ थी, लेकिन आज भीड़ में शामिल चेहरे बदले हुए थे। आज वहाँ अपने मुकदमों की पैरवी के लिए मुखिया जी की खुशामद करने वाले लोग नहीं थे। वृद्धावस्था या सामाजिक सुरक्षा पेन्शन दिलाने का आग्रह करने वाले लोग भी नहीं थे। आज वहाँ जगेसर सिंह, शिवाजी पांडे, धूपन महतो और उनके साथ हरिजन टोली के कुछ लोग थे। ये लोग दिन-रात अपने काम में डूबे रहने वाले लोग थे। जगेसर, शिवाजी पांडे और धूपन महतो छोटे-छोटे किसान थे, जो अपनी जमीन के अलावा दूसरों की जमीन पट्टे पर लेकर खेती करते। हरिजन टोली के लोग साल भर इधर-उधर मजदूरी किया करते।

‘वाह-वाह बजरंगी सेठ,’ मिसिर जी ने बजरंगी के ‘पाय लागू महाराज’ के उत्तर में हल्का-सा सिर हिलाते हुए कहा, ‘खूब चलती है तुम्हारी भी। यहाँ जनता-जनार्दन सवेरे से हमारा माथा खा रहे हैं और तुमको नून-तेल बेचने से ही फुरसत नहीं है। अरे, भाई, अपनी दुकान के साथ-साथ तुम कंट्रोल की दुकान भी चलाते हो। इस नाते जनता के प्रति भी तुम्हारी कुछ जवाबदेही हैं। साफ बात है, इस जवाबदेही को तुम समझते नहीं तो कहो, तुम्हें इससे अलग कर दिया जाय।’

जवाबदेही से अलग कर दिया जाय, मतलब कि कंट्रोल की दुकान किसी दूसरे आदमी को दे दी जाय। ‘यह क्या कह रहे हैं मुखिया जी’, बजरंगी साह का चेहरा फीका हो गया। क्या गलती हुई उससे, जब से उसने दुकान सँभाली है, तब से हमेशा मुखिया जी को उनका हिस्सा देता रहा है। माहवारी कोटे की चीनी और किरासन तेल का कितना हिस्सा गाँव में बाँटना है और कितना गोदाम से उठाकर बाजार में ही खपा देना है, सब कुछ तो वह मुखिया जी के आदेश से ही करता रहा है अब तक। कंट्रोल की इस दुकान को सन्तू पंडित से छुड़ाकर अपने नाम कराने के लिए ही तो उसने मिसिर जी को उनके हाईस्कूल के लिए इस कटू जमीन दी थी और अब वही कह रहे हैं कि...। सूखते होठों पर जीभ फिराते हुए बोला, ‘असल में मुँह धोकर खराई मिटाने लगा था महाराज।’

‘बस-बस, खराई ही मिटाते रहो तुम, मिसिर जी ने जैसे उबते हुए कहा, तुमको दिन-दुनिया की कुछ खबर तो है नहीं। सुना, तुमने, जगेसर क्या कह रहा है?’

‘क्या कह रहा है महाराज?’

‘मुझसे क्या पूछते हो, जगेसर से ही पूछ लो,’ मिसिर जी ने कहा, बोलो भाई, जगेसर।’

‘बात यह है बजरंगी भाई कि इस साल की बाढ़ की हालत तो तुमने देखी ही है। और सालों से ज्यादा नुकसान हुआ है इस बार। मकई, जोन्हरी, कोदों-साँवा सब कुछ बरबाद हो गया। खैर, बाढ़ तो हमारे इलाके के लिए कोई नई बात नहीं है। नई बात एक दूसरी ही दिखाई पड़ रही है। वह यह कि इस बार अब तक रिलीफ के नाम पर अपने यहाँ कुछ नहीं बँटा है। हर साल तो बाढ़ के दौरान ही सरकारी नावों पर लदा रिलीफ का माल गाँव-गाँव बँटने लगता था। इस बार बाढ़ आई और चली गई, लेकिन रिलीफ का अब तक पता नहीं। उसी सिलसिले में हम लोग मुखिया जी के पास आए हैं कि कुछ इन्तजाम होना चाहिए।’

बजरंगी की समझ में कुछ खास नहीं आया। रिलीफ नहीं बँटी तो इसमें वह क्या कर सकता है! परसों ही तो गया था वह ब्लॉक में। कहीं कुछ चर्चा नहीं थी। होती तो उसे भी पता होता। आखिर कुछ सरकारी माल बँटेगा तो से भी कुछ-न-कुछ फायदा तो होगा ही। बोला, ‘बात तो तुम ठीक कह रहे हो जगेसर भाई। हर साल बाढ़

उतरने के बाद रिलीफ बँटने लगती है। इस बार क्यों नहीं बँटी, यह बात मेरी समझ में भी नहीं आ रही है।’

‘लो भला, इनकी समझ में इतनी मोटी-सी बात भी नहीं आ रही है,’ मिसिर जी ने बजरंगी की बुद्धि पर तरस खाते हुए कहा, ‘अरे भाई, सीधी-सी बात है। ये जो सरकार के अफसर लोग हैं, चाहेंगे तब न बँटेगी रिलीफ! वे लोग तो सारा माल हड़पने के चक्कर में रहते हैं। मैं तो पिछले महीने भर से जब भी प्रखंड कार्यालय जा रहा हूँ, एक ही बात कह रहा हूँ, इलाके की जनता की परेशानियों को दूर किया जाय। बाढ़पीड़ितों के बीच रिलीफ बाँटी जाय। लेकिन, कोई सुनने वाला है? बी.डी.ओ. और दूसरे लोग तो कुछ भी कहो, बस हँसने लगते हैं।’

‘इन अफसरों के दिमाग खराब हो गए हैं महाराज,’ धूपन महतो ने कहा, ‘और यह जो आपकी पार्टी की सरकार है न, उसे भी गाँव वालों और गरीब लोगों से कुछ लेना-देना नहीं है।’

‘राम-राम, यह तुम क्या कह रहे हो धूपन भाई,’ मिसिर जी ने कान पकड़ते हुए कहा, ‘एक ही साथ तुमने दो बातें कहीं, एक सही और एक गलत। अफसरों को जो कहा, सो तो सब ठीक है, लेकिन जहाँ तक सरकारवाली बात है, उसे मैं गलत मानता हूँ। तुम लोग अखबार-वखबार कुछ पढ़ते नहीं, रेडियो भी नहीं सुनते। अरे, सरकार ने तो दो सप्ताह पहले ही रिलीफ बाँटने का आदेश दिया है। राह के रोड़े तो ये अफसर हैं, जो सारा माल हड़प जाना चाहते हैं। सब बदमाशी इन्हीं लोगों की है।’

बजरंगी को सारी चर्चा व्यर्थ प्रतीत हो रही थी। बोला, ‘जो भी हो, बाँटना तो उन अफसरों को ही है महाराज। इनके मन में आएगा तो बाँटेंगे, नहीं आएगा तो नहीं बाँटेंगे।’

मिसिर जी का पारा एकाएक गरम हो गया, ‘तुम एकदम फालतू आदमी हो, बजरंगी सेठ! अरे, यह प्रजातन्त्र है। इसमें वह नहीं हो सकता जो अफसर चाहेंगे, वह होगा जो जनता चाहेगी। सुनो भाइयो, जैसे तुम लोग मेरे यहाँ आए, वैसे ही मेरे साथ प्रखंड कार्यालय चलो। हम बी.डी.ओ. से बात करेंगे। वह नहीं सुनेगा तो एस.डी.ओ. के यहाँ जाएँगे। फिर देखते हैं कैसे नहीं बँटती है रिलीफ। और हाँ जगेश्वर, बीस-पच्चीस और लोगों को अपने साथ लेना होगा। संगठित होकर ही हम कुछ कर सकते हैं। बजरंगी, तुम्हें भी चलना है हमारे साथ।’

‘जी महाराज!’ बजरंगी ने कहा और दूसरे लोगों के साथ बाहर आ गया।

वे लोग फिलहाल अनुमंडल कार्यालय के प्रांगण में थे। बजरंगी एक जगह उकड़ू बैठ गया था और कई लोग इर्द-गिर्द खड़े हो गए थे। बाकी लोग इधर-उधर चहलकदमी

कर रहे थे। जगेसर भी उन्हीं में था। उसकी निगाह बार-बार अनुमंडलाधिकारी के कार्यालय के दरवाजे की ओर जाती और क्षण भर टिकने के बाद वापस अपने लोगों की ओर लौट आती। उसके गाँव के लोग, जो संख्या में तीस से भी अधिक थे, इधर-उधर घूम रहे थे और जगेसर की ही तरह कुछ जानने के लिए उत्सुक थे।

लगभग घंटे भर पहले भी, जब वे लोग प्रखंड कार्यालय में थे, इसी तरह बेचैन नजरों से बी.डी.ओ. के कमरे की ओर देख रहे थे। मिसिर जी तब कमरे के अन्दर थे। बजरंगी भी उन्हीं के साथ था। बाद में मिसिर जी बाहर आए थे और उन्होंने जगेसर से कहा था, 'भाई जगेसर, बी.डी.ओ. के पास हमारी बातों को काटने के लिए तर्क नहीं है। वह भी कह रहा है कि रिलीफ बॉटनी ही चाहिए। लेकिन, अपनी लाचारी भी बता रहा है कि अभी ऊपर से कोई आदेश नहीं आया है। ऐसा करो, तुम सब लोग अनुमंडल कार्यालय में चलो, बजरंगी भी तुम लोगों के साथ जाएगा। वहाँ पीपल के पेड़ के पास खड़े रहना। मैं बी.डी.ओ. के साथ आ रहा हूँ, थोड़ी देर में।'।

तब से वे लोग यहीं खड़े थे। बीच में सरकारी जीप में बी.डी.ओ. के साथ बैठकर मिसिर जी भी आए थे। जीप से उतरने के बाद वह सीधे जगेसर के पास आए थे, 'देखो, हम लोगों के अनुमंडलाधिकारी के कमरे में घुसने के बाद से तुम लोगों की नारेबाजी शुरू हो जानी चाहिए। थोड़ी-थोड़ी देर पर नारे लगते रहने चाहिए। और हाँ ये बीस रुपए रख लो। बीच में अपने लोगों को चाय-वाय पिलाते रहना...'

मिसिर जी बी.डी.ओ. के साथ अनुमंडलाधिकारी के कमरे में घुसे ही होंगे कि जगेसर ने सभी लोगों को इकट्ठा करके नारेबाजी शुरू कर दी थी। नारे कुछ देर तक लगते रहे थे, 'भ्रष्ट प्रशासन-मुर्दाबाद...अफसरशाही नहीं चलेगी...बाढ़पीड़ितों को राहत दो...' आदि। नारे सुनकर बहुत से लोग वहाँ आ गए थे और तमाशा देखने के अन्दाज में खड़े हो गए थे।

बजरंगी को पहले तो यह सब अच्छा नहीं लगा था। घर से आने की उसकी इच्छा थी ही नहीं। यँ दुकानदारी छोड़कर बेमतलब इधर-उधर घूमना...यह भी कोई काम है। लेकिन जब प्रखंड कार्यालय में घुसते समय मुखियाजी ने उसका हाथ दबाते हुए धीरे से कहा था, 'बजरंगिया लगता है तुझे रिलीफ का मतलब ही नहीं मालूम.. .अरे ससुर साल भर कंट्रोल की चीनी-तेल बेचने से जो कुछ नहीं मिलता, वह हफ्ते भर रिलीफ बॉटने से मिल जाता है। असल में, पिछले वर्षों में रिलीफ बॉटने का काम तूने नहीं किया है। किया होता तब समझता...'

उसके बाद से बजरंगी सोचते-सोचते सभी कुछ समझ गया था। फिर तो उसने किसी को चाय पिलाई और किसी को पान खिलाए। अभी कुछ देर पहले वह कोने

वाली दुकान से जगेसर के साथ पान खाकर लौटा था और अपने आस-पास की जमीन को योजनाबद्ध ढंग से थूक-थूक कर रंगीन बना रहा था। एकाएक जगेसर ने उससे कहा, 'देखो-देखो, मुखियाजी आ गए।'

मिसिर जी अनुमंडलाधिकारी के कमरे के बाहर खड़े थे। उनके साथ कई लोग थे, जिनमें बी.डी.ओ. को सभी लोग पहचानते थे। सूट-बूटवाले एक और आदमी थे, जो शायद अनुमंडलाधिकारी थे। मुखियाजी ने हाथ से इशारा किया और सभी लोग उधर ही बढ़ गए।

लोगों के वहाँ पहुँचते ही सूटवाले ने कहना शुरू कर दिया, 'देखिए, नारेबाजी एक चीज है और काम करना दूसरी चीज। ऐसा नहीं कि हम रिलीफ बाँटना नहीं चाहते। लेकिन हमारे साथ भी कुछ दिक्कतें हैं। बहरहाल, हमने कलक्टर साहब से बात की है। उन्होंने कहा है कि हफ्ते भर के अन्दर जनता तक राहत सामग्रियाँ पहुँच जाएँगी। सरकार का निर्णय है कि बाढ़ से प्रभावित क्षेत्रों में रिलीफ के साथ-साथ काफी श्रम योजनाएँ भी चलाई जाएँगी, ताकि आनेवाले कुछ दिनों तक गाँवों के मजदूरों को रोजगार नियमित रोजगार मिलता रहे। हाँ, इन श्रम योजनाओं के अन्तर्गत काम करने वाले लोगों को नकद पैसे नहीं मिलेंगे, काम के बदले अनाज मिलेगा। लेकिन इन सभी कामों में कुछ समय लगेगा। रिलीफ और कठिन श्रम योजनाओं के अन्तर्गत बँटनेवाला अनाज आपके गाँव के मुखियाजी अगले दो-तीन दिनों में ले जाएँगे और वही आपके इलाके में उसे बँटवाएँगे। आगे से आप लोग बस मुखियाजी से ही संपर्क करें।'

उसके बाद एस.डी.ओ. जिन्दाबाद, बी.डी.ओ. जिन्दाबाद जैसे नारे लगाते सभी लोग गाँव लौट आए थे।

ठीक पाँचवें दिन मिसिर जी ने सुबह-सुबह जगेसर को बुलवाया था। जगेसर जब हाथ-मुँह धोकर उनके दरवाजे पर पहुँचा, उस समय वहाँ बजरंगी साह, धूपन महतो और शिवजी पांडे भी उपस्थित थे। 'मुखियाजी ने इन लोगों को भी बुलवाया होगा' जगेसर ने सोचा और उन लोगों के पास ही बैठ रहा। मिसिर जी वहाँ नहीं थे। वे सभी आपस में बातें करने लगे। तभी हाथ में लोटा लिए बुढ़ऊ मिसिर जी खेतों की तरफ से लौटे थे। वह भी बातचीत में शामिल हो गए।

मुखियाजी थोड़ी देर बाद भीतर से निकले। सभी लोगों के 'राम-राम' का जवाब देकर वह एक ओर पड़ी कुर्सी खींचकर बैठ रहे। फिर बजरंगी से बोले 'क्यों भाई, तुमने इन लोगों को बता दिया न कि रिलीफ का माल कल गाँव में आ गया।'

'अभी कहाँ महाराज!' बजरंगी ने दांत निपोरते हुए कहा, 'अभी तो हमारी राम-चर्चा शुरू ही हुई है।'

मुखियाजी का चेहरा और आवाज, दोनों असहज हो गए, 'तुम भी धन्य हो बजरंगी सेठ! अरे भाई, इतनी बड़ी खुशी की बात हुई और तुम अभी तक चुप रहे! वह भी वैसी बात, जिसके होने में सभी लोगों का परिश्रम शामिल है। खैर भाइयो, हम सभी लोगों ने संगठित होकर गाँव की गरीब जनता की भलाई के लिए जो कुछ किया, उसका हमें उचित फल मिला है। कल शाम को मैं और बजरंगी पच्चीस किंवदल अनाज ले आए हैं। अब समस्या है उसे बाँटने की।'

'यह कोई समस्या नहीं है भईया!' शिवजी पांडे ने कहा, 'हम लोगों की मेहनत से कुछ हुआ, यही बहुत बड़ी चीज है। बाँटने का काम आपका है, आप समझें।'

'अरे नहीं भाई' मिसिर जी ने परम सन्तोष के साथ कहा, 'जिस तरह हम सभी लोग इसे संगठित प्रयास से यहाँ तक ले आए, उसी तरह हमें उसे उन लोगों तक पहुँचा भी देना है, जिनके लिए यहाँ सब कुछ आया है। खैर, मैंने इसका रास्ता भी ढूँढ़ लिया है। एक कमिटी मैंने बनाई है, जिसके सात सदस्य होंगे। हम पाँचों आदमी तो उसमें रहेंगे ही, एक आदमी हरिजन टोली से भी लेना होगा। एक आदमी ब्लॉक का कोई कर्मचारी होगा पंचायत सेवक या फिर कोई और। क्यों ठीक है न!'

'एकदम सही है महाराज!' सभी ने स्वर से कहा।

'अच्छी बात है!' मिसिर जी ने प्रसन्न होकर कहा और अपनी जेब से निकालकर एक कागज उन लोगों के सामने रख दिया, 'यह कागज रिलीफ कमिटी के गठन से सम्बन्धित है। यह कलम लीजिए और अपने-अपने नाम के आगे दस्तखत कर दीजिए, अभी कई काम पड़े हैं।'

जगोसर, बजरंगी और धूपन महतो ने चटपट अपने दस्तखत कर दिए। शिवजी पांडे लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे। बचपन में ही अनाथ हो गए थे और उसी समय से कुछ न कुछ करके अपना पेट चलाते रहे थे, इसलिए उनकी पढ़ाई-लिखाई होने का कोई सवाल नहीं था। सो, मिसिर जी ने उनके बाएँ हाथ का अँगूठे का निशान उस कागज पर उतरवा लिया। फिर बोले, 'अब आप लोग जाइए। हाँ हरिजन टोले से किसी को न हो तो नरेश राम को भेज दीजिएगा। उसी को कमिटी का सदस्य बना लेंगे।'

सभी लोग उठ खड़े हुए। मिसिर जी भी उन लोगों के साथ अपनी दालान से बाहर निकले। कुँए के निकट पहुँचते-पहुँचते वह रुक गए। 'एक बात कहना तो मैं भूल ही गया। देखिए, आप लोगों ने इतना कुछ किया गाँव के लोगों के लाभ के लिए। अब मुखिया होने के नाते यह मेरा फर्ज है कि मैं आप लोगों के भले के लिए कुछ सोचूँ और करूँ। देखिए, बात साफ है। हम लोग नहीं लगते ताँ यह रिलीफ-विलीफ कुछ भी गाँव में नहीं बँटती। खैर, जहाँ तक मेरा सवाल है मुझे एक दाने से भी मतलब नहीं।'

लेकिन आप जरूरतमन्द लोग हैं। मैं चाहुँगा कि एक-एक बोरा गेहुँ आप लोग ले लें। जो बचेगा, उसे बाँटवा दीजिए। हाँ, नरेश राम को भी एक बोरा दे दीजिएगा।’

शिवजी पांडे और धूपन महतो मुखिया जी के प्रस्ताव पर उछल गए, ‘जैसी आपकी मर्जी सरकार। आप तो सबकुछ जानते-समझते हैं।’

मिसिर जी ने जगेसर की ओर देखा। वह गम्भीर हो गया था। वह बोला, ‘यह बात मुझे कुछ जँच नहीं रही है महाराज! वैसे भी यह बाद की बात है। जरूरतमन्द लोगों को बाँटने के बाद अगर कुछ अनाज बच जाता है, तब देखा जाएगा। फिर जैसे आपको एक दाने से मतलब नहीं है, मुझे भी नहीं है।’

‘बड़े उत्तम विचार हैं तुम्हारे जगेसर भाई!’ मुखिया जी ने जगेसर की पीठ थपथपाई, ‘अगर कुछ बचेगा तो जिन्हें जरूरत होगी, उन्हें दे दिया जाएगा। खैर अब तुम लोग जाओ। हाँ नरेश राम को जल्दी भेज देना।’ फिर बजरंगी से बोले, ‘तुम थोड़ी देर यहीं रुको। मैं हिसाब करके तुम्हें बता दूँगा कि एक आदमी को कितना अनाज देना है। और हाँ जगेसर भाई, तुम जरा गाँव में खबर पहुँचा दो कि शाम को बजरंगी साह की दुकान में रिलीफ बाँटेगी।’

इन लोगों के चले जाने के बाद मिसिर जी बजरंगी के साथ वापस अपनी दालान की ओर लौट पड़े, ‘देखो बजरंगी, लगता है बात बिगड़ रही है इसलिए मैंने तुम्हें रोक लिया। अनाज तो तुम उतना ही बाँटना, जितना एक राशन कार्ड पर पहले देते रहे हो, असल बात यह है कि ये लोग हमारे कहने के मुताबिक नहीं चलेंगे इसके लिए हमें कुछ सोचना होगा। खैर तुम कितने बोरे ले आए हो अनाज के?’

‘पच्चीस बोरे महाराज!’ ‘बजरंगी ने कहा, ‘बाकी पच्चीस बोरे वहीं शहर में मैंने लखन सिंह के यहाँ उतरवा दिए थे। हमेशा की तरह...’

‘सो तो ठीक है,’ मिसिर जी के चेहरे पर थोड़ी चिन्ता झलकने लगी थी।’

‘हो सकता है, बाद में हमें कुछ और अनाज ले आना पड़े। तुम ऐसा करना, श्याम बिहारी से बात करना। उसे दो-दो बोरे, जितना भी कहे, खाने-पीने के लिए दे देना। हाँ, भूल से भी किसी से यह कहने की जरूरत नहीं है कि काम के बदले अनाज वाले कार्यक्रम के लिए भी सौ बोरे गेहुँ मिला है पंचायत को। कोशिश यह करनी है कि इसी बार वाले अनाज के सहारे वह कार्यक्रम भी एक-दो दिन चला दिया जाय। खैर अब तुम जाओ... और हाँ, श्याम बिहारी को जरूर सन्तुष्ट रखना।’

‘आप मजदूरी की फिकर मत कीजिए महाराज!’ रघुराम ने कुदाल से कटी मिट्टी के एक बड़े ढोंके को अपने हाथों से उठाकर अपनी जनाना की टोकरी में डालते हुए कहा, ‘सभी काम हम लोग मजदूरी की लालच में नहीं करते। फिर यह तो सारे गाँव का काम है। जैसे हम सरकारी गेहुँ के बदले चार दिन से इस सड़क पर मिट्टी डाल

रहे हैं, वैसे ही कल घंटे-दो घंटे अपनी इच्छा से डाल देंगे। गेहूँ खतम हो गया तो इसका मतलब थोड़े ही है कि काम अधूरा रह जाएगा।’

‘अब तुम जैसा उचित समझो, वैसा करो भाई!’ मिसिर जी ने खैनी मलते हुए कहा, ‘मुझे जो कहना था कह दिया। मैं तो खुद भी यही चाहता हूँ कि इस तरह का काम रोज हुआ करे। तुम नहीं समझोगे कि मुझे कितना सुख मिल रहा है इस तरह गाँव का काम करने-करवाने में। लेकिन मेरे चाहने से क्या होता है। मजदूरों को देने के लिए गेहूँ नहीं है हमारे पास। वह तो मैंने कहा कि काम अधूरा नहीं छोड़ा जाएगा। भले ही एक दो दिन की मजदूरी का गेहूँ मुझे अपने घर से ही क्यों न देना पड़े...’

‘यह भी कोई कहने की बात है महाराज!’ रघुराम ने कहा, ‘आपको कौन नहीं जानता। खैर, यह मिट्टी डालने का काम मजदूरी के चलते नहीं रुकेगा। कोशिश करेंगे कि आज ही पूरा हो जाय। नहीं होगा तो फिर कल...’

मिसिर जी रघुराम की बात पूरी होते-होते गाँधी चबूतरे की ओर बढ़ गए थे। न जाने बजरंगी साह कब वहाँ आकर बैठ गया था। मिसिर जी को आता देख उठ खड़ा हुआ। बोला, ‘यह खैरात धन्धा कब तक चलता रहेगा महाराज! इस तरह तो मेरी दुकानदारी ही चौपट हो जाएगी...।’

‘चोप्प...’ मिसिर जी ने आसपास देखते हुए डांट दिया बजरंगी को, ‘बड़ी मुश्किल से सबको समझा कर आ रहा हूँ। सब लोग मान भी गए हैं। बस्स, आज के बाद काम बन्द। करते रहना अपनी दुकानदारी।’

‘वाह! वाह यह हुई न बात महाराज!’ बजरंगी चहक उठा। उसने आँख मूँदकर पास के हनुमानजी की मूर्ति की ओर मुँह करके हाथ जोड़ दिए। फिर बोला, ‘खैनी बनाऊँ महाराज?’

‘नहीं, अभी खाई है,’ मिसिर जी ने कहा और पच्च से वहीं जमीन पर थूक दिया, ‘देख तू कल शहर जाकर लखन सिंह से हिसाब-किताब कर आना। मैं समझता हूँ, सौ बोरे का हिसाब करना है उनसे।’

‘हिसाब तो अपने पास है ही साफ-साफ,’ बजरंगी ने कहा, ‘खैर रुपए-पैसे का हिसाब तो लेना ही है उनसे। एक बात महाराज...रिलीफ के माल में बी.डी.ओ. साहब का हिस्सा भी तो होगा न?’

‘यह तुमसे किसने कहा मूरखदास!’ मुखिया जी ने झल्लाकर कहा, ‘यह माल हम आन्दोलन करके ले आए हैं। वह हरामजादा तो सब अपने ही गटक जाना चाहता था। हाँ, ग्राम सेवक को उसका हिस्सा जरूर दे देना होगा। और उससे रपट भी करा देनी होगी कि सब कुछ ईमानदारी से बाँट दिया गया...बिलकुल ईमानदारी से।’

दिन ढल गया था, मजदूरों ने काम बन्द कर दिया और सभी लोग गाँधी चबूतरे के निकट जमा होने लगे। उनके बीच से रघुराम आगे आया। उसने कुदाल पैरों के

पास खड़ी कर दी और गमछे से देह झारते हुए कहा, 'कल का काम भी हमने आज ही कर दिया महाराज! कुछ बख्शीश देनी होगी।'

'जरूर-जरूर,' मिसिर जी खुश हो गए। उन्होंने सरसरी निगाह मजदूरों के आज के काम पर डाली। सड़क का काम सचमुच पूरा हो गया था। बाढ़ के कारण सड़क पर जगह-जगह दिखाई देने वाले गड्ढे अब कहीं भी नजर नहीं आ रहे थे। बोले, 'बहुत अच्छी तरह काम किया है तुम लोगों ने भाई। खैर यह तो गाँव का काम है, अपना काम है। फिर भी मैं तुम लोगों को निराश नहीं करूँगा। सुनो बजरंगी, तुम इन लोगों को आदमी पीछे एक किलो गेहूँ ऊपर से दे देना...'

'बहुत कम है...बहुत कम है महाराज,' भीड़ के बीच में एक शोर सा उठा, 'कम-से-कम आधी बोतल का दाम भी दे दीजिए।'

'आधी बोतल का दाम क्या हम अपने घर से देंगे!' बजरंगी ने तैश में आकर जोर से कहा।

मुखियाजी ने उसे डाँट दिया, 'यह क्या कह रहे हो तुम? तुम्हें बोलने की भी तमीज नहीं है? यह हमारे अपने लोग हैं। मैं इन्हें निराश नहीं कर सकता। तुम इन्हें आदमी पीछे दो किलो दे देना। जो घाटा होगा, वह मेरे ऊपर...'

मजदूरों ने खुश होकर मिसिर जी की जयकार से वातावरण गुँजा दिया। मिसिर जी ने हाथ जोड़ दिए, 'अरे भाई, जय ही बोलनी है तो गाँधी बाबा की बोलो...बोलो जोर से, गाँधी बाबा की...'

'जय...जय...' का जबरदस्त शोर हुआ। मजदूरों के शान्त होने पर बजरंगी ने कहा, 'ठीक है, अब तुम लोग घर जाओ। कल तीसरे पहर मेरी दुकान में आकर अपना हिसाब साफ कर लेना।'

अलग-अलग टुकड़ों में बँटकर मजदूर अपने घरों की ओर चल पड़े। चले तो उन्हीं लोगों के साथ बजरंगी और मिसिर जी भी, लेकिन मजदूरों की तेज चाल के साथ उनकी गति का मेल नहीं बैठ सका। नतीजतन वे काफी पीछे हो गए। वैसे भी उनको कोई जल्दी नहीं थी।

गाँव के बाहर पोखर के पास जगेसर खड़ा मिला। बोला, 'मैं आप ही के पास जा रहा था महाराज...'

'बहुत खूब...बहुत खूब,' मिसिर जी मौज में थे, 'कहाँ तो मैं दिन भर तुम्हारा इन्तजार कर रहा था गाँधी चबूतरे पर और कहाँ तुम मुझे ढूँढ़ने निकले हो...वाह-वाह...खैर, मुझसे मिलो, न मिलो, तुम्हारी मर्जी, लेकिन भाई, जाकर गाँव की सड़क तो देख आओ। लगती है, जैसे बिलकुल नई बनी हो।'

'सो तो ठीक है महाराज,' जगेसर ने थोड़े संकोच के साथ कहा, 'दरअसल मैं एक बात कहना चाहता हूँ...'

‘तो इसमें संकोच की क्या बात है।’ मिसिर जी ने उसे उत्साहित किया, ‘आपस की बात है, एक नहीं, सौ बात कहो...कहो कहो!’

‘सुना महाराज, आज से काम के बदले अनाजवाला कार्यक्रम बन्द कर दिया गया।’

‘सही सुना तुमने,’ मिसिर जी ने जगेसर का चेहरा पढ़ने का असफल प्रयास किया, ‘सड़क मरम्मत का काम पूरा हो गया, एक बड़ा काम हो गया और फिर जैसे काम खतम हो गया, वैसे ही अनाज भी खतम हो गया। हिसाब-किताब बराबर, क्यों बजरंगी!’

लेकिन, बजरंगी के ‘जी महाराज’ कहने के पहले जगेसर ने कहा, ‘लेकिन अनाज कैसे खतम हो सकता है महाराज? उस दिन तो एस.डी.ओ. ने कहा था कि यह कार्यक्रम इसलिए चलाया जा रहा है ताकि गाँव के मजदूरों को नियमित मजदूरी मिल सके और...’

‘अरे भइया, वह सब कहने की बातें थीं,’ मिसिर जी ने कहा, ‘तुम उनके चक्कर में कहाँ पड़ने लगे। वे लोग रिलीफ बाँटने का नाम ले ही नहीं रहे थे, तुमने तो देखा ही था। वैसे भी जितना कुछ हो गया, हो गया। यही क्या कम है? क्यों बजरंगी!’

‘जी महाराज,’ इस बार जगेसर के कुछ कहने के पहले ही बजरंगी ने कहा। जगेसर ने उसे चुभती निगाहों से देखा, फिर बोला, ‘महाराज अफसर लोग सचमुच रिलीफ नहीं बाँटना चाहते थे। यह हम सभी जानते हैं। लेकिन जब हम लोग उसके पीछे-पीछे बी.डी.ओ, एस.डी.ओ के यहाँ गए तब बँटी कि नहीं रिलीफ? चार दिन के लिए सही, काम के बदले अनाज कार्यक्रम चला कि नहीं गाँव में? बोलिए, आपकी अगुआई में यह सब हुआ कि नहीं हुआ?’

‘हुआ, बिल्कुल हुआ भाई!’ मिसिर जी अपनी प्रशंसा से सशक्त हो गए, ‘सब ठीक है, लेकिन तुम कहना क्या चाहते हो?’

‘यही कि हम लोग फिर इकट्ठे उन अफसरों के पास चलें महाराज! आप ही ने तो कहा था कि यह प्रजातन्त्र है। इसमें वह होगा जो जनता चाहेगी। वही नहीं होगा जो अफसर चाहेंगे। आपने कहा था न...’

‘कहा तो था।’ मिसिर जी परेशान-से हो गए, ‘कहा था जगेसर सिँह! लेकिन एक बात समझ लो अब मैं फिर अफसरों के पास नहीं जाऊँगा। मैं मुखिया हूँ। वे लोग क्या समझेंगे? यही न कि हमारे गाँव के लोग एकदम कंगाल हैं, भुखड़...नहीं मैं अब नहीं जाऊँगा।’

‘ठीक है महाराज!’ जगेसर ने दृढ़ता के साथ कहा, ‘आप नहीं जाएँगे तो मैं जाऊँगा। मैं पूछूँगा उन अफसरों से कि आखिर हमारे गाँव में काम के बदले अनाज

कार्यक्रम क्यों बन्द कर दिया गया? अब मजदूरों को नियमित काम कहाँ से मिलेगा?’
मिसिर जी जी से कुछ कहते न बना। बोले, ‘अच्छी बात है। जाना चाहते हो तो जाओ। लेकिन यह जान लो जगेसर, तुम्हारे जैसे अकेले आदमी की बात सुननेवाला वहाँ कोई नहीं है, कहीं कोई नहीं।’

‘अकेला नहीं जाऊँगा महाराज!’ जगेसर ने पहले से भी ज्यादा वृद्ध स्वर में कहा, ‘वैसे ही जाऊँगा जैसे पिछली बार हम लोग गए थे। अन्तर यही होगा कि इस बार आप साथ नहीं हो, केवल आप...’

बजरंगी को जैसे मौका मिला। जोर से बोला, ‘मैं भी तुम्हारे साथ नहीं जाऊँगा और मैं ही क्या, कोई तुम्हारे साथ नहीं जाएगा।’

‘अब यही तो देखना है सेठ!’ जगेसर ने कहा और सीधे रास्ते की ओर बढ़ गया, ‘पांय लांगू महाराज।’

ठगे से रह गए मिसिजी। कुछ देर की चुप्पी के बाद आगे गाँव की ओर उन्होंने कदम बढ़ाए। धीरे से बोले, ‘बजरंगी!’

‘जी महाराज!’

‘कल जितने मजदूर आएँ, उन्हें और आधा किलो गेहूँ देना। और सुन...’

‘क्या महाराज!’

‘कागज-पत्तर तो अपने सब सही सलामत हैं रे! फिर भी चल जरा रामबिहारी बाबू की ओर चलें। लगता है, ससुर जगेसरा का दिमाग खराब हो गया है। श्यामबिहारी से कहकर उसे ठीक कराना होगा।’

‘जी महाराज!’ बजरंगी ने कहा और मिसिर जी के पीछे-पीछे चलने लगा।

सफेद बालों वाला तपस्वी

गुरबचन सिंह

निश्चय ही वह महान था। उसकी दृष्टि विशाल और सोच-समझ का दायरा व्यापक। वह किसी साधारण व्यक्ति की अपेक्षा, ऊँचा उठ कर सोचता था। उसकी नजरें वहाँ तक मार करती थीं, जहाँ कोई देख नहीं पाता। उसका व्यक्तित्व गम्भीर था यद्यपि वह एक क्षीणकाय व्यक्ति था, उसके शरीर में जो जिन्दगी दौड़ रही थी, उसमें काफी गरमाहट थी।

शायद किसी मजबूरी से वह यह समझता था कि दुनिया-जहाँ का दर्द बस उसी के सीने में है। कहीं कोई कराहता है तो उसके दिल में हूक उठती है। कहीं कोई रोता है तो उसका कलेजा फटने लगता है। कहीं कोसों दूर कोई घटना घटे, गोलियाँ चलें, बम फटें, आहत के रक्त से धरती लाल हो जाए, उसे सब कुछ दिखाई दे जाता है। मरने वाले की आह और कराह तक उसके कानों तक पहुँच जाती है। वह बिन पानी की मछली की तरह तड़पने लगता है। यदि सच में वह अपनी आँखों से बूढ़े, बच्चों, स्त्री-पुरुष को, राईफल, पिस्तौल या मशीनगन की गोलियाँ खाकर तड़पता देख ले, खून में लथपथ उनकी लाशें देख ले तो जाने उस पर क्या बीते!

जाने क्यों हमेशा से मनुष्य मनुष्य के खून का प्यासा क्यों रहा है। कभी वह अपनी नसल के लोगों का गला काट कर, कभी उसे सूली पर चढ़ाकर, फाँसी पर लटका कर, कभी उसके अंग-अंग जुदा कर, कभी गोलियों से उनका सीना छलनी कर, अपनी हिंसक मनोवृत्ति की पूर्ति करता है। जहाँ हमेशा एक शक्ति ने दुर्बल पर छा जाने की कोशिश की है। राष्ट्र धर्म और कुल तथा जाति के नाम पर खून बहाया है।

लेकिन वह महान व्यक्ति, वह चिन्तक इतनी दूर नहीं जाना चाहता। वह तो आज की घटनाओं से प्रभावित है। वह दिन-रात इन्हीं के बारे में सोचता रहा होगा। न उसे खाने-पीने की सुध है, न सोने-जागने की, वह एक उत्तेजनात्मक स्थिति से गुजर रहा है। वह डायरी लिखता है, कितने घायल हुए, कितने गायब कर दिए, सब उसकी नोट-बुक में दर्ज रहता है।

इकबाल सिंह ने अनुभव किया था, कंकड़ों में पड़ा वह एक हीरा है, सहज ही जिसकी चमक ने लोगों को आकर्षित कर लिया है। ऐसे महापुरुष के दर्शन करके अपने आपको धन्य समझना चाहिए जो जमाने भर का दर्द अपने सीने में पाल रहा है। दरमियाने कद का, सफेद बालों वाला वह तपस्वी प्रायः चिन्तामग्न बैठा या तो अखबार पढ़ता रहता है या मैप देखता रहता है। जब इससे भी जी भर जाय तो वह कलम चलाने लगता है। उसके सामने एक ही समस्या है, उग्रवाद, आतंकवाद का सामना कैसे हो। यह जो आए दिन लोगों का खून बहता है, जानें जाती हैं, इसकी रोकथाम कैसे हो। माँ-बहन और विधवाओं के आँसू कैसे रुकें। कैसे जखियों की कराहें, और तड़पते लोगों की हाय-हाय सुनने को न मिले।

उसका सोचना शत-प्रतिशत उचित है। वह ऐसे व्यक्ति से अवश्य मिलना चाहता था। वह स्वयं एक दुखी आदमी है, महापुरुषों के दर्शनमात्र से ही कई कष्ट दूर हो जाया करते हैं।

उसने अपनी पत्नी से शहर जाने की इच्छा प्रकट की। अर्धे उम्र पत्नी ने रो-रोकर कहा 'सतपाल तो गया सो गया। उस पर भी शहर की तरफ जाने का भूत सवार था। जो गया तो आज तक लौटा ही नहीं। लोग अन्धे हो रहे हैं। दोस्त-दुश्मन की पहचान नहीं। न जाने कब किसे क्या हो जाए। और कब पुलिस और फोर्स की गोली चल जाए। गोली अन्धी होती है। वह कुसूरवार होता है या नहीं। इतना कुछ कहने पर भी सतपाल नहीं माना था। शहर जाते-जाते जाने वह कहाँ पहुँच गया। उसके इन्तजार में आँखें सूज गई हैं। और अब तुम जा रहे हो। मुझे कब तक तुम्हारे लौट आने का इन्तजार करते रहना पड़ेगा।'

'तुम बहुत ज्यादा सोच रही हो। मैं इतना नादान नहीं हूँ कि कहीं खो जाऊँगा। समझो, सतपाल ही की तलाश में जा रहा हूँ।'

'क्या अब भी उसकी तलाश बाकी है।'

'जब तक हम जिन्दा हैं, हमारी तलाश जारी रहेगी।'

'वह कौन है, जिसके पास जा रहे हो।'

'वह फिलहाल एक ठहरा हुआ तूफान है। जो जंगलों, पहाड़ों, ऊँची इमारतों आदि से उलझता हुआ अब सिमट कर एक जगह रुक-सा गया है। उसने दुनिया भर का दर्द अपने अन्दर समेट रखा है। उसके पास ऐसे लोगों की तालिका है जिनकी हत्या हुई है या जो पुलिस अथवा सी.आर.पी. की गोली से मारे गए हैं। जो जख्मी हैं और दर्द से कराह रहे हैं। मैं समझता हूँ गुम हो गए लोगों की फेहरिस्त भी उसके पास होगी। शायद वह हमारे सतपाल के बारे में कुछ कह सके।'

पत्नी ने कहा 'जाओ तब। मैं तुम्हें नहीं रोकूँगी। तुम तूफान से मिलने जा रहे हो। जाने तुम उसके पास पहुँच भी सकोगे या नहीं। मैं तो ईश्वर से प्रार्थना करूँगी,

तुम दृढ़ रहो। पर देखो, तुम किसी से कहना नहीं कि तुम शहर जा रहे हो...तूफान से मिलने।’

‘इतमीनान रखो। गाँव में मेरे जाने की खबर मेरे सिवा और किसी को नहीं होगी।’

दूसरे दिन सवेरे जब पौ फट चुकी थी, वह घर से रवाना हुआ। धुएँ जैसा कुहासा अभी फिजां को पूरी तरह अपनी लपेट में लिए हुए था। कुछ देर पहले आम के बगीचे से किसी कोयल की दर्द भरी कूक सुनाई दे रही थी, वह थम चुकी थी। खेत अभी सोए से जान पड़ते थे। और एक बाजरे के खेत में ‘धोख’ सिर झुकाए खड़ा था। अर्द्ध सेना बल के जवानों ने उस पर, खेतों में छिपा कोई उग्रवादी समझकर गोलियाँ दागी थीं, और वह एक तरफ को लुढ़क गया था। अब कौवे उससे नहीं डरते।

‘रुक जाओ!’ उसे कहीं पास ही से एक आवाज सुनाई दी। पहले उसे शक हुआ शायद वह कपड़े का बना हुआ गुड़ड़ा ही बोल रहा है। लेकिन नहीं, वह तो मर चुका था। यह आवाज बगीचे की तरफ से आई थी। और उसने देखा, राईफल ताने कुछ जवान उसकी तरफ बढ़े चले आ रहे हैं। वह वहीं रुका गया।

वे निकट आए और उससे पूछा ‘कौन हो तुम? इस समय कहाँ जा रहे हो।’

‘मुझे नहीं पहचाना! मैं इसी गाँव का वासी हूँ, और शहर जा रहा हूँ।’

‘किसलिए?’

‘एक महात्मा के दर्शन करने।’

‘कौन महात्मा?’

‘वही जो अपने दिल में दुनिया भर का दर्द समोए, पापियों के पाप का बोझ और हत्याओं द्वारा की गई हत्याओं का कलंक अपने माथे पर आँके पश्चाताप कर रहा है। सुना नहीं तुमने, सैकड़ों लोग उसके दर्शनों को जाते हैं। उसकी साधना, उसकी तपस्या की सफलता की प्रार्थना करते हैं।’

‘तुम कोई पागल तो नहीं हो?’ एक बन्दूकधारी ने पूछा।

‘काश! मैं पागल होता। मैं पागल होता तो मुझे अपने-पराए की पहचान न होती। दुख-सुख मेरी समझ से परे होते। चिन्ता और भय का प्रभाव भी मेरे ऊपर लेश मात्र न होता। मुझे मौत से भी डर न लगता।’

‘तुम पागल हो।’

‘नहीं, मैं पागल नहीं हूँ।’

‘यदि तुम पागल नहीं हो तो हम तुम्हें गोली मार देंगे। तुम बोलो, हाँ, मैं पागल हूँ...पागल...।’

वह चीख कर बोला ‘नहीं, मैं पागल नहीं हूँ।’

सिपाही ने खींच कर एक थप्पड़ उसके मुँह पर मारा ‘साला हरामखोर, मरने

पर तुला हुआ है। पागल नहीं तो और क्या है!’ और दल गाँव की ओर बढ़ गया। कृपू आँखें फाड़े उन्हें जाता देखता रहा और अपने गाल सहलाता रहा। थप्पड़ जोरदार था। सरकारी आदमी के हाथ का जो था। इसके पीछे पूरी शक्ति थी। हूकूमत की ताकत। वह सच में पागल है। उसके पागल होने में कसर ही क्या रह गई है। जवान बेटा शहर की ओर गया था, वापस घर नहीं लौटा। उसकी तलाश में वह मारा-मारा फिरा है। भूखा रहा है। सरपंच, थानेदारों और हाकिमों तक के पैर चूमे हैं। पर खोए हुए का कुछ पता नहीं चला। अब तो उस महात्मा ही से कोई उम्मीद की जा सकती है। क्योंकि उसके पास खोए हुए व्यक्तियों की सूची मौजूद है।

पहले से उजाला और अधिक फैल गया था। बगीचे में पक्षी भिन्न-भिन्न बोलियों में टेरेने लगे थे। इसके साथ ही बाग के रखवाले की पुकार भी सुनाई दे जाती थी। उसका जी चाहा वह अपने लड़के का नाम लेकर जोर से पुकारे, ‘सत्ते...सतपाल सिंह...’ और उसे उसकी पुकार के जवाब में सुनाई दे ‘हाँ बापू...’

ओह! यह आवाज सुनकर उसे खुशी होगी। उसने जोर से पुकारा, ‘सत्ते बेटे!’

‘बापू...!’ उसे दूर से आते हुए एक स्वर का आभास हुआ।

‘सत्ते बेटे कहाँ हो, सामने आओ!’ और वह चलता-चलता रुक-सा गया। कुछ क्षण अपनी पुकार की प्रतीक्षा में रहा। पर कहाँ ‘सत्ता सामने कहाँ’ आया। निश्चय ही वह पागल है। उसे यकीन हो गया, वह पागल है। वह आगे बढ़ने लगा।

थोड़ी दूर जाने पर उसे गाँव का पंडित सेवाराम दिखाई पड़ा। सेवाराम सवेरे-सवेरे जंगल-पानी के लिए नहर की तरफ निकल जाता है। उसे देखते ही पंडित बोला ‘तड़के-तड़के कहाँ चल दिए इकबाल सिंह।’

‘शहर जा रहा हूँ पण्डित।’

‘क्या किसी खास काम से जा रहे हो?’

‘ऐसा ही समझ लो।’

‘लड़के का कुछ पता चला?’

उसने गहरी सांस लेते हुए कहा ‘नहीं!’

‘भगवान पर भरोसा रखो वह जरूर लौट आएगा। एक तुम्हारे ही लड़के का नहीं कई घरों के जवानों का पता नहीं चल रहा। जिस गाँव में जाओ वहीं ऐसा सुनने को मिलता है। जाओ, कोशिश करो, अवश्य सफलता मिलेगी। काम निबटाकर जल्दी लौट आना। रात किसी गुरुद्वारे या धर्मशाला में मत ठहरना। अपनी लम्बी खुली दाढ़ी के चलते शक ही में पकड़ लिए जाओगे।’

वह पंडित से विदा हो, तेज कदम बढ़ाता हुआ आगे बढ़ा और सड़क पर आकर बस का इन्तजार करने लगा।

शक तो उसे भी था कि उसके बेटे को पुलिस पकड़कर ले गई है। सीधे-सादे

जवान लड़कों को शक की नजर देखना आम बात हो गई है, और वे हिरासत में ले लिए जाते हैं।

जब सत्ता सवेरे का घर से निकला शाम तक घर नहीं लौटा था तो उसे और उसकी पत्नी को परेशानी हुई थी। यह परेशानी रात तक घबड़ाहट में बदल गई थी। सवेरे उसके लौट आने की आशा की जा सकती थी, पर वह उस दिन भी नहीं लौटा था। शहर में उसे कोई खास काम नहीं था। सिर्फ एक दवा लानी थी। लोगों ने कहा था, शहर की आबोहवा खराब है। सत्ते को किसी वजह से वहाँ रुकना पड़ गया होगा। मौका देखते ही घर लौट आएगा। पर वह तो तीसरे-चौथे दिन भी घर नहीं लौटा था। फिर पाँच-छः दिन और बीत गए। तब इकबाल सिंह सरपंच के पास जाकर गिड़गिड़ाया, सत्ते का पता लगाने में वह उसकी मदद करे।

सरपंच ने पूछा था, 'पुलिस में खबर की।'

'नहीं!'

'तुम खुद मत जाना। यह काम मेरे ऊपर छोड़ दो। हाँ, कुछ खर्च करना पड़ेगा। मेरा यकीन है, वह शक की बिना पर पुलिस की हिरासत में है। नए कानूनों के चलते पुलिस जिसे चाहे पकड़ सकती है, जिसे चाहे गोली से उड़ा सकती है। कोई न उन्हें रोक सकता है, न उनकी कहीं शिकायत कर सकता है। और सच में अगर सत्ता पुलिस की हिरासत में है, तो उसे छुड़ाने में काफी खर्च आ जाएगा। दो-चार दिनों बाद मुझसे मिलना।'

सरपंच का एक जमाई पुलिस में सब-इंस्पेक्टर था। इसलिए आशा बँध गई थी, सत्ते का पता जरूर चल जाएगा।

चार-पाँच दिनों के बाद सरपंच ने उसे बताया था सतपाल नाम का कोई लड़का शक की बिना पर पुलिस की हिरासत में है। वह चोरी-छिपे हथियार ले जाता हुआ पकड़ा गया था। उस पर संगीन इलजाम है। शायद थानेदार पाँच-सात हजार रुपए लेकर उसका नाम पकड़े गए लड़कों की फेहरिस्त में से निकाल दे।

'पाँच हजार...।' आश्चर्य से उसने सरपंच की ओर देखा था। क्या सरपंच नहीं जानता कि वह एक गरीब किसान है, और उसके पास मुट्ठी भर जमीन है। उसने 'पाँच हजार' का शब्द दोहराया तो सरपंच ने कहा 'हाँ 'पाँच हजार' और इस काम में देर लगेगी।'

उसने अपनी पत्नी और कुछ साथियों से मशवरा करके पाँच हजार रुपयों की व्यवस्था कर सरपंच को दे दिए थे। छः महीने बीत गए, लड़का अभी तक घर नहीं लौटा। वह सरपंच के पास जाता है तो वह कह देता है, 'मैं न कहता था, इस काम में देर लगेगी। अगर सबर नहीं कर सकते तो भगवानपुर जाकर खुद थानेदार से मिल लो।'

थाने जाकर थानेदार से मिलना बड़े जोखिम का काम है। उस तक आज कल पहुँच ही मुश्किल है। वह वहाँ किसी से उससे मुलाकात करवा देने को कहता है तो वह उसे डपट देता है, कहता है, क्या पागल हो गए हो। जाओ यहाँ सत्ता नाम का कोई कैदी हवालात में नहीं है। कहीं और तलाश करो।’

एक दिन तो एक सब-इंस्पेक्टर ने उसे ताड़ना देते हुए कहा था, ‘अब जो कभी इधर आए तो अन्दर कर दिए जाओगे।’

बस आ रही थी। वह सतर्क हो गया। जब बस निकट आ गई तो उसने हाथ का इशारा किया। बस खड़ी हो गई। उसने पूछा ‘बस शहर की तरफ जा रही है न!’

‘हाँ हाँ, चलो ऊपर आओ।’ कंडक्टर ने बाँह से पकड़कर उसे ऊपर खींच लिया। एक झटके से बस आगे बढ़ी। वह गिरते-गिरते बचा। बचाव के लिए उसने लोहे की हथ्थी थाम ली। एक नजर उसने बस के अन्दर बैठे लोगों की तरफ देखा। शायद कहीं किसी की बगल में बैठने की जगह खाली हो। लेकिन नहीं ऐसी गुंजाइश नहीं थी। खैर कोई बात नहीं। वह खड़ा-खड़ा सफर करेगा। आध घंटे की तो बात है फिर वह शहर पहुँच जाएगा। शहर में वह उस महान हस्ती के दर्शन करेगा, जिस ने आसमान से तारे तोड़ने का संकल्प कर रखा है। जो ऊँची उड़ान भरना चाहता है। वह दुखी लोगों का मसीहा है।

बस बड़ी तेजी से दौड़ी जा रही थी।

‘दरवाजे से जरा आगे बढ़ जाओ।’ कंडक्टर ने उससे कहा।

वह हथ्थी थामे डोलता डगमगाता सा कुछ आगे सरक आया।

कोई तो उससे पूछे वह सवेरे-सवेरे कहाँ जा रहा है। वह जूठे मुँह कहाँ चल दिया।

नहीं, कोई उससे कुछ नहीं पूछेगा। कोई क्या जानता है कि वह कितने दुखों के बोझ से लदा हुआ है। हफ्तों क्या, महीनों बीत गए, घर से गया लड़का वापस नहीं लौटा। उसका सारा इतमीनान, उसके घर की सारी खुशियाँ फीकी पड़ गई हैं। वह देवता के पास अपनी खुशियाँ माँगने जा रहा है। क्योंकि वह भविष्यद्रष्टा है। अतीत, भविष्य और वर्तमान कुछ भी उससे छिपा हुआ नहीं।

एक मुसाफिर अपनी सीट से उठकर उतरने की तैयारी करने लगा। आगे बढ़कर उसने उसकी जगह पर कब्जा जमाना उचित नहीं समझा। बस का अब सफर खत्म होने को था। बस शहर में दाखिल होने वाली थी। उसने सीट खाली करने वाले अपरिचित व्यक्ति से पूछा, ‘भाई क्या इसी नगर के रहने वाले हो?’

उसने कहा ‘हाँ...!’

‘भला गोलघर किधर कहाँ होगा?’

‘वह तो स्टेशन के पास है। बस स्टैण्ड से कुछ दूर। रिक्शे वाला दो-तीन रुपए लेगा।’

उसने अपने मन में कहा, वहाँ तक पैदल भी पहुँचा जा सकता है।

उसके अनुमान के विपरीत वहाँ दर्शनाभिलाषियों या दर्शकों की भीड़ नहीं थी। न वहाँ मेला लगा हुआ था, और न वहाँ मरघट अथवा कब्रिस्तान जैसा भयावह सूनापन था। न वहाँ मुरदार पड़े सड़ रहे थे, और न वहाँ लोहबान या अगरबत्ती की सुगन्ध फैल रही थी। न वहाँ अंधेरा था, न उजाला। न धूप, न छाँव! वहाँ ऐसा कुछ भी अजीब नहीं था, जिसे देखकर वह चमत्कृत हो उठता। ऊपर वही आसमान, नीचे वही धरती, जिस पर मनुष्यरूपी जीव चल-फिर रहे थे।

सामने एक दो-मंजिला इमारत थी। उसके सामने एक छोटा-सा लॉन था। सड़क की ओर फाटक। उसने देखा वहाँ सुरक्षा-बल के चार-छः जवान हाथों में स्वचालित गन लिए खड़े थे। इमारत की तरफ नजर गई तो वहाँ बरामदे में उसे गनमैन पहरा देते नजर आए। और जब छत की तरफ नजरें गईं तो वहाँ भी ऐसा ही कुछ नजर आया। उसे लगा छत पर खड़े गनमैन उसकी तरफ निशाना बाँधे खड़े हैं।

क्या वह महापुरुष, वह साधक, जिसका मन चोट खाए हुए लोगों के प्रति करुणा से कलपता रहता है, इसी गढ़ में रहता है! वह किससे पूछे।

राह चलते एक व्यक्ति से उसने पूछा, ‘भाई! क्या सफेद वालों वाला वह तपस्वी इसी भवन में रहता है?’

‘कौन तपस्वी...कैसा साधक!’

‘वही जिसने जमाने भर का दर्द अपने सीने में पाल रक्खा है।’

‘मुझे नहीं मालूम!’

‘आश्चर्य है। उसके बारे में तो अखबारों में भी छपा है।’

‘छपा होगा। मैं जो अखबार पढ़ता हूँ, उसमें यह खबर नहीं छपी।’ राहगीर अपनी राह लगा!

उसने देखा, एक परिन्दे पकड़ने वाला बहेलिया ढेर सारे परिन्दे पिंजरों में बन्द किए, उस ओर से गुजर रहा था।

‘भाई सुनो!’ उसने उसे पुकारा।

वह खड़ा हो गया।

‘क्या तुम्हारे पास बोलने वाली मैना है।’

‘नहीं! तोता है। लोगे?’

‘नहीं!’

परिंदे वाला कन्धे से बंहगी झुलाए आगे बढ़ गया। वह भी कुछ आगे बढ़ कर भवन के गेट के पास जा खड़ा हुआ।
पहरे पर जवान सतर्क हो गए और उसकी तरफ घूरती हुई नजरों से देखने लगे।

वह बोला, 'मैं महापुरुष के दर्शनों के लिए आया हूँ।'

'कौन-सा महापुरुष!'

'वे जो इस घर में रहते हैं।'

'उनसे नहीं मिल सकते।'

'मेरा उनसे मिलना जरूरी है।'

'उनसे कोई नहीं मिल सकता!'

'क्यों?'

'क्योंकि उसे तुम जैसे दरिंदों से अपनी जिन्दगी का खतरा है।'

'पर मैं...'

'जाओ यहाँ से'...जवान बीच ही में डपट कर बोला। उसके दूसरे साथी ने कहा, 'साला पागल मालूम देता है।'

तीसरा उसकी तरफ गन करता हुआ बोला 'जाओ नहीं तो उड़ा दिए जाओगे।'

एक राहगीर ने उसका हाथ पकड़कर खींचते हुए कहा, 'चलो यहाँ से। क्यों उससे उलझ रहे हो।'

कुछ कदम उसके साथ चलकर उसने कहा, 'मैं तो तपस्वी से मिलना चाहता था।'

'तपस्वी...! कैसा तपस्वी?'

'वही, सोचते-विचारते जिसके सिर के बाल सफेद हो चुके हैं। और जो मरने वालों तथा आहत लोगों का दुख भोग रहा है।'

'अरे भाई कौन किसी के दुख को झेलता है। सबका अपना-अपना दुख होता है। उसे झेलने से ही उसे फुरसत नहीं। जाओ अपना काम करो। बेकार सरकारी आदमियों से मत उलझो। जमाना खराब है।' कहता हुआ राहगीर अपनी राह लगा।

इकबाल सिंह रास्ते से हट कर एक तरफ खड़ा हो गया। वह घनी आशाएँ लेकर आया था। यहाँ पहुँचकर उसे शान्ति प्राप्त होगी। ऐसा उसने सोचा था। उसके सत्ते का पता चल जाएगा। या ऐसी सूचना अवश्य मिल जाएगी, जिससे कि वह सत्ते तक पहुँच सके। लेकिन नहीं। उसे लगा, सब भ्रम है। जो व्यक्ति स्वयं अपने आपको असुरक्षित अनुभव करता है, वह दूसरों के कल्याण के लिए तपस्या कैसे कर सकता है। वह तो आम लोगों से टूटा हुआ है, जुड़ा हुआ नहीं। उसके अन्दर एक विद्रोह-सा लावे की तरह बल खाने लगा था। उसके शरीर में एक सिहरन-सी दौड़ने लगी थी।

हृदय की धड़कन बढ़ गई थी और सांस फूलने लगी थी। आक्रोश फूट पड़ा और वह चीखता हुआ सा बोला, 'तपस्वी बाबा जो मरने से डरता है, जिसे अपने आप ही से मोह है, वह दूसरों की रक्षा कैसे कर सकता है? क्या तुम मेरे सत्ते का पता बता सकते हो, वह जिन्दा है या मर गया! वह किसी जेल में पड़ा सड़ रहा है कि उसकी हड्डियाँ किसी शमशान की चिता में पड़ी सुलग रही हैं। तुम बता सकोगे कि मेरे लँगड़े बेटे का क्या कुसूर था? वह तो न ठीक तरह से चल सकता था, न दौड़ सकता था।'

राह चलतों का ध्यान कुछ क्षणों के लिए उसकी ओर गया। और शायद यह सोचकर कि 'बेचारा कोई पागल है,' अपनी राह लगे।

पिंजरे वाला फिर इसी राह लौट रहा था। उसके पास आकर बोला 'कबूतर लोगे?'

'कितने का है?'

'पिंजरे समेत पच्चीस रुपए।'

'लाओ दो।' कहते हुए उसने अपने कुर्ते की जेब से दस दस के दो और पाँच का एक नोट निकाल कर उसके हाथ में थमा दिया।

पिंजरे वाले ने पिंजरा उसे थमा दिया। वह कुछ क्षण उस पिंजरे में बन्द कबूतरों को देखता रहा। फिर उसने पिंजरे का दरवाजा खोल दिया।

कबूतर, जो पहले उसकी इस कार्रवाई को सहमी-सहमी नजरों से देख रहे थे, धीरे-धीरे पिंजड़े के दरवाजे तक आए और फिर बाहर निकल कर हवा में उड़ने लगे। उड़ते-उड़ते वह उस भवन की ओर जाने लगे, जिसकी छत पर बन्दूकधारी सिपाही घूम रहे थे।

बुत बोलते हैं

कमल गुप्त

बुतों की आदत होती है कि वे खड़े रहते हैं, पड़े रहते हैं, गड़े रहते हैं, जड़े रहते हैं, कुछ छोटे और कुछ बड़े रहते हैं पर बोलते कभी नहीं। यह आदत इनकी आज से नहीं, हजारों-लाखों साल से है। जब जमाना नहीं था तब भी इनका जमाना था। दुनिया की हर हरकत इन्हीं की अंगुलियों के इशारों पर हुआ करती थी। सूरज, चन्दा सितारे सब इन बुतों की जी हजूरी करते थे, उनके यहाँ पानी भरते थे। लोग-बाग इनको पूजते थे। आदमजात ने हर जमाने से इन्हें अपने सर आँखों पर उठाए रखा, चढ़ाए रखा, बिठाए रखा...और जमाए रखा। और इस तरह हर जमाने में ये जमे रहे, ये कभी उजड़े नहीं सिवा सिकन्दरियाई और औरंगजेबी उठापटक को छोड़कर। इन दोनों लड़ाकू और झगड़ालू पट्टों ने जिस ओर भी कदम बढ़ाया वहाँ के बुतों का बुरा हाल कर दिया। उन्हें उखाड़ फेंका, उन्हें पछाड़ फेंका पर ये फिर भी नहीं बोले एक चुप, हजार चुप। बर्दाश्त करने की हर हद तक वे बर्दाश्त करते रहे और चुप रहे, कभी भी नहीं बोले। लोगों ने उनके सामने अपनी गरदन उतार दी या फिर बकौल उस बुत की, उसी के सामने किसी दूसरे की गरदन उतार दी, पर वे चुप रहे। उनकी आड़ में राजाओं से लेकर हुक्कामों-चाटुकारों से लेकर साहूकारों और अक्लमन्दों से लेकर अक्लमन्दों सभी ने अपने-अपने धन्धे चलाए, अपने फन के करतब दिखाए किसी की बहू-बेटी की इज्जत लूटी, और वे चुप रहे, किसी को जिबह करके उसे लूटा और वे चुप रहे, और चोरी-चमारी का हिसाब किया और वे चुप रहे, कभी ऐसा भी हुआ कि बुतों को ही निहंग कर दिया, सोने-हीरे के उनके जेवरात बदल कर नकली जेवरात पहना दिया और वे चुप रहे। कभी यह भी हुआ कि उन्हें ही उनके हाथ-पैर तोड़कर गायब कर दिया और घास-फूस में भरकर विदेश की यात्रा पर रवाना कर दिया और उनकी जगह उनकी नकल खड़ी कर दी, और वे चुप रहे, कभी कुछ नहीं बोले। हर जमाने का इतिहास इस बात का गवाह है कि वे कभी नहीं बोले। जो देवताओं के बुत होते हैं, वे चुप रहते हैं। उनकी मर्यादा इसी में रहती है, उनकी शान-शौकत इसी में रहती है कि वे चुप रहें और हर अत्याचार देखने-सुनने और सहने के बाद भी उफ न

करें। उफ न करने की कला इन देवताओं ने ही...भारतवासियों को सिखाई है और आज तक सिखाते चले आ रहे हैं। हर हाल में चुप रहो। कभी भी डंडा मत उठाओ, चाहे तुम नंगा हो जाओ, गोली खा जाओ पर बोली न निकालो, भूखे रह जाओ पर भाखो नहीं, और यही वजह है कि हम सहनशील हैं, विनयशील हैं, विचारशील हैं, शीलवान हैं, चाहे हमारा शीलहरण ही क्यों न होता हो। इन देवताओं ने ही हमें बेहाली में ही खुशहाली का गुर सिखा दिया है और यही कारण है कि हमारे ऊपर साहुकारों, चाटुकारों, अफसरों, जमाखोरों, चोरबाजारों और जमादारों की हजारों मारों का कोई असर नहीं होता। यह शान्तिकारों का देश देवताओं ने ही बनाया है। अपने लिए बनाया है, अपनी खातिर बनाया है। इसीलिए यहाँ बिना खाए आदमी सोता है और बिना खाए आदमी मरता है पर देवता कभी भूखा नहीं सोता। वह एक सजे-सँवरे मकान में रहता है पर आदमी को दो गज जमीन भी नसीब नहीं होती, एक झोपड़ी भी नसीब नहीं होती। शान्तिकारों की जगह क्रान्तिकारों का यदि यह देश होता तो यह बेकारों का देश न होता।

बुतों से अलग जहाँ तक आदमियों का ताल्लुक है यहाँ सिर्फ दो तरह के आदमी हैं। कुछ पालतू हैं और कुछ फालतू हैं। जो पालतू हैं उनके सामने सुबह-शाम दो टुकड़े रोटी के फेंक दिए जाते हैं और वे जब तक जिन्दा रहते हैं दुम हिलाते रहते हैं। जो फालतू हैं वे भूकते हैं, भाखते हैं, भीख माँगते हैं और भूखे मरते हैं और जनता कहलाते हैं। यह देश इन्हीं दो कौमों से बना हुआ है पालतुओं से और फालतुओं से। इन दोनों से ऊपर पहले राजा होता था और आजकल सरकार है, पहले बर्तानियाँ सरकार थी, अब जनतन्त्री सरकार है। यह सुनने में काफी अच्छा लगता है टुमरी गायन की तरह। इसी जनतन्त्री सरकार के लिए अब्राहम लिंकन ने कभी लिखा था जनता की सरकार, जनता के लिए सरकार, जनता द्वारा सरकार। बदले सन्दर्भ में, यदि लिंकन साहब को आज कहना होता तो कहते पालतुओं की सरकार, पालतुओं के लिए सरकार, पालतुओं के द्वारा सरकार। कुछ लोग इसी को कहना हो तो कहेंगे नौकरशाही की सरकार, नौकरशाही के लिए सरकार, नौकरशाही के द्वारा सरकार। पर बात दोनों एक ही हैं। दोनों शब्दों में व्याकरण सम्बन्धी ही अन्तर है। पालतू शब्द विशेषण है और नौकर शब्द संज्ञा। वैसे इन दोनों शब्दों में जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध है। नौकर हमेशा पालतू होता है और जो पालतू होता है वह नौकर। इन दोनों तत्वों का जब मेल होता है तो एक नई दुनिया का जन्म होता है एक नई सरकार का जन्म होता है। जिसमें जनता इनके घर पानी भरती है और ये जनता की जड़ में पानी भरते हैं। जिसमें जनता हाहाकार करती है और ये हीहीकार करते हैं। जिसमें जनता सीना पीटती है और ये सोना पीटते हैं, जिसमें जनता भूखों मरती है और ये खा-खाकर मरते हैं...वगैरह-वगैरह।

मैं बहक गया। बात कर रहा था बुतों की और भूतों के चक्कर में पड़ गया। लेकिन फिर भी आप चाहें तो आगे की बात को यहीं से फिर आगे बढ़ाया जा सकता है। मतलब यह कि उपरोक्त सरकार के जन्म के बाद जनता के ऊपर जो भी गुजरे, जितना भी गुजरे देवता नहीं बोलेंगे, ऐतिहासिक परम्परा नहीं तोड़ेंगे, अपनी सांस्कृतिक परम्परा नहीं तोड़ेंगे, सब कुछ देखते रहेंगे, सुनते रहेंगे पर बोलेंगे नहीं। वे बुत कभी नहीं बोलेंगे।

पर इधर कुछ दिनों से वे बुत बोलने लगे हैं जो दोराहों, चौराहों और छह राहों पर खड़े कर दिए गए हैं। आजादी के बाद ऐसे बुतों की काफी तादाद में पैदाइश हुई है और वे बेराहों और गुमराहों सभी के मार्गदर्शन एवं पथ प्रदर्शन का पुश्तैनी कार्य सम्पन्न कर रहे हैं।

रात देर तक बाहर घूमने-टहलने की मेरी आदत एक गबमारी की हद तक है। इन बुतों से घिरे शहर के बीच जब रात गए टहलता हूँ तो मुझे भी खुद के एक बुत होने का भान हो जाता है। फर्क यह जरूर है कि और बुत खड़े होते हैं, मैं चलता हुआ बुत होता हूँ। मुझे बड़ा मजा आता है यह सोचकर कि जब सारी दुनिया रात के हाथों गला घोट कर मार डाली गई है तो मैं जिन्दा हूँ। बड़े-बड़े महापुरुषों के बीच मैं चहलकदमी कर रहा हूँ, मटरगश्ती कर रहा हूँ।

उस रात मेरी हालत काफी खस्ता हो गई जब दो बुतों को आपस में बात करते हुए पाया। दोनों बुत दो महापुरुषों के थे जिनमें एक बुत की ऊँचाई आधे आदमी के बराबर थी। उस बुत को अपने छोटे कद का दुख साल रहा था। ऊपर से बनाने वालों ने उसे और भी छोटा बना दिया था। मैं इसी बुत के पीछे दुबक कर खड़ा हो गया और उनकी बातें सुनने के वास्ते कान भी खड़े कर लिए। दूसरा बुत शेरवानी और चूड़ीदार पायजामा पहने लम्बे कद का था और उसकी आवाज दूर से भी साफ सुनाई पड़ रही थी। उसने छोटे बुत से पूछा

‘कहो कैसे हो?’

‘ठीक ही हूँ।’ छोटे बुत ने जवाब दिया।

‘तुम्हारी साइज इतनी छोटी कैसे हो गई? पहले तो इतनी कम नहीं थी।’

‘अरे भाई, तब भी तुम मेरे कन्धे तक आ जाते थे पर अब तो तुम मेरी कमर तक ही आ सकते हो।’

‘हो सकता है, यह इस कमरतोड़ महँगाई का असर हो।’ छोटे कद वाले बुत ने संजीदगी से कहा।

‘तो क्या महँगाई सिर्फ तुम्हारे लिए ही है, मेरे लिए नहीं? मेरी तो मेरे कुदरती साइज से भी बड़ी बनाई गई है।’

‘बड़े लोगों के लिए महँगाई होती भी तो नहीं। यह तो हम जैसे लोगों के लिए ही होती है।’

‘तुम्हारा रोना अभी तक गया नहीं, कभी हँसकर भी तो देखो।’

‘किस बूते हँसूँ। मेरे कानों में तो लोगों के रोने, चीखने-चिल्लाने की आवाजें हर वक्त गूँजती रहती हैं।’

‘तुम अपनी आदत से बाज नहीं आओगे। इसीलिए तुमसे बात करने की तबीयत नहीं होती।’ लम्बे कद के बुत ने गुस्से से कहा और तुनककर चुप हो गया।

मुझे जब इतमिनान हो गया कि वाकई अब दोनों में बात आगे नहीं बढ़ेगी तो मैं सड़क पर आ गया।

हफ्तेभर तक ये बातें मेरे सर में गूँजती रहीं पर इसके बारे में मैंने किसी से भी बात नहीं की। मुझमें बुतों की बातें सुनने की इच्छा काफी जोर पकड़ने लगी, और मैं काफी रात गए बुतों के बीच घूमता-फिरता रहता। एक रात जब उसी रास्ते से गुजर रहा था तो उसी छोटे कद वाले बुत को बुदबुदाते हुए सुनकर पीठिका से सटकर खड़ा हो गया। कुछ देर बाद थोड़ा संयत होने पर वह लम्बे कद वाले बुत से बोला ‘मुझे बोलोगे नहीं क्या? आज मैं बहुत दुःखी हूँ।’

‘क्यों क्या हुआ?’

‘तुम उस रोज पूछ रहे थे न कि मेरी साइज इतनी छोटी कैसे हो गई? इसका रहस्य मुझे मालूम हो गया है।’

‘कैसा रहस्य?’

‘दरअसल हमारी मूरत बनाने के लिए काफी रुपया चन्दे में इकट्ठा हुआ था पर उसका तीन चौथाई हिस्सा उसको इकट्ठा करने वालों ने घुमा दिया और मेरा साइज चौथाई चन्दे की रकम से चौथाई बनाकर रख दिया। कितना हास्यास्पद बना दिया है उन सबने मुझे। इससे तो अच्छा था कि वे मेरी बुत ही न बनाते।’

‘तुम्हें तो हर जगह बुराई ही नजर आती है। मुझे तो कहीं कोई बुराई नजर नहीं आती।’

‘आदर्शवादी हो न, इसीलिए।’

‘तुम क्या नहीं हो?’

‘हूँ पर मैं जमीन पर खड़ा होकर सोचने का आदी हूँ। मैं आदर्शों को जमीन से बाँधता हूँ, तुम आदर्शों को आसमान से बाँधने के आदी हो ऊँचे देखनेवाला जमीन नहीं देख पाता।’

‘अच्छा अच्छा...मुझे सिखाओ नहीं।’ लम्बी कद वाला बुत फिर तुनक गया और छोटे कद वाले को झिड़क कर चुप हो गया।

उस रात काफी अँधेरा था। सड़क की बत्तियाँ भी गायब थीं। मैं एक बिना ढक्कन के मेन होल में गिरते-गिरते बचा और मेरे मुँह ने कारपोरेशन के गाल पर एक गाली

रसीद की। आगे बढ़ा तो सड़क पर पड़े एक बड़े पत्थर से टकरा गया। पैर में गहरी चोट लगी। पास में ही महात्मा गाँधी की कढ़े आदम मूरत के नीचे गोल चबूतरे पर आकर मैं बैठ गया और चोट सहलाने लगा। काफी थक गया था और मुझे नींद लग रही थी। एक आवाज सुनकर मैं चौंक गया। आवाज गाँधीजी की थी और मेरे लिए थी।

‘बापू आप मुझे बुला रहे हैं?’

‘हाँ तुम्हें ही। मेरे नजदीक आओ।’

‘आज्ञा करें, बापू!’ मैं विनीत स्वर में बोलते हुए पास जाकर खड़ा हो गया। वे बोले, ‘देखो मैं वर्षों से यहाँ खड़ा हूँ और खड़े-खड़े काफी थक गया हूँ। औरों को देखो, और कई बुत घोड़ों पर सवार हैं, इसलिए वे नहीं थकते, पर भई मैं तो थक गया हूँ। काफी बूढ़ा भी हूँ इसलिए बेहद थक गया हूँ। तुम ऐसा करो मेरे लिए भी एक घोड़ा ला दो।’

‘ठीक है बापू, मैं पूरी कोशिश करूँगा।’ वादा करके मैं चला आया फिर यह सोचकर कि वह सब कुछ सपना था, मैंने सारी बात दिमाग से निकाल दी।

करीब हफ्ते दस रोज बाद आधी रात को मैं फिर उसी चबूतरे पर बैठ कर विश्राम कर रहा था कि फिर मुझे बापू की आवाज सुनाई दी। मैं पास गया तो वे बोले

‘तुमने मेरे लिए एक घोड़ा लाने का वादा किया था?’

‘जी, किया था।’

‘फिर क्या हुआ उसका?’

‘अभी तो कुछ भी नहीं बापू!’

‘तुम निकम्मे हो, तुम्हें मेरी इतनी भी फिकर नहीं?’

‘फिकर क्यों नहीं है, बापू! इस बार माफ कर दें, मैं कल ही उसे लेकर आऊँगा।’

‘ठीक है।’ बापू ने थोड़ी नाराजगी और थोड़ी प्रसन्नता से कहा।

मैं चला आया, पर मेरी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था कि आखिर यह सब क्या हो रहा है? बापू को मेरे लगभग 66 साल हो रहे हैं फिर इन सबका मतलब। सारे देश में उनकी बोली जब कहीं सुनाई नहीं पड़ रही है तो मैं यहाँ कहाँ से सुनने लगा। सारी बातें कभी-कभी तो सिर्फ बकवास लगतीं, लेकिन जिस तरह से मैं उनको बोलते हुए रात को सुनता हूँ, वह आँखों देखी और कानों सुनी बात की तरह ही सच है। अन्त में मैंने अपने क्षेत्र के नेता महोदय से सम्पर्क किया। पिछले पच्चीस सालों में वे पाँच बार से लगातार जनता द्वारा चुने चले आ रहे हैं। हर बार चुने जाने पर उनके बत्तीस दांत खिल जाते हैं और जनता अपने दांतों तले उंगली रख देती है। पाँच बार

के चुनाव में उन्होंने आगे आने वाली अपनी पाँच पीढ़ियों के लिए मकान, दुकान और सामान वगैरह का चुनाव कर लिया है। मुझे ये होनहार विरबान के काफी चिकने पात सरीखे नजर आते हैं। आपके ही कर कमलों द्वारा बापू की उस मूरत का अनावरण समारोह भी सम्पन्न किया गया था और उससे सम्बन्धित संगमरमर का एक लम्बा-चौड़ा पट्टा बापू की मूरत के नीचे पीठिका पर जड़ा भी हुआ था। गाँधीजी वाले कार्य के लिए वे सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति मुझे प्रतीत हुए। मैंने नेता महोदय से भेंट की। उन्हें सारी बात कह सुनाई। पहले तो वे भड़के बोले, क्या बकवास है, मैं जाना-माना नेता होकर आज तक उनकी आवाज कभी सुन नहीं सका तो तुम कहाँ के दुम हो! पर काफी देर तक सर खपाने पर वे मेरी बात मानकर वहाँ चलने और अपनी आँखों से देखने और अपने कानों से सुनने के लिए राजी हो गए। इस चमत्कार को देखने की लालसा भी उनमें पैदा हो गई थी।

घटना की दूसरी आधी रात उनके साथ मैं घटनास्थल पर पहुँचा। मैं आगे-आगे था और वह पीछे-पीछे। मेरे वहाँ पहुँचने की देर थी कि बापू की आवाज सुनाई पड़ी

‘क्यों जी तुम आ गए?’

‘जी बापू!’

‘मेरे लिए घोड़ा आज भी नहीं लाए। मैंने तुमसे बार-बार कहा कि मैं थक गया हूँ। पर एक तुम हो कि मेरे लिए एक घोड़ा आज भी नहीं ला सके?’

‘मेरी कुछ समझ में नहीं आ रहा है बापू कि मैं क्या करूँ इसलिए मैं अपने क्षेत्र के नेता महोदय को अपने साथ लेता आया हूँ, आप उन्हीं से बात कर लें।’ इतना कहकर मैंने नेता महोदय को उनके सामने कर दिया। बापू ने खूब गौर से नेता महोदय को ऊपर से नीचे तक देखा और गुस्से से भरकर मुझसे बोले, ‘मैंने तुमसे एक घोड़ा लाने के लिए कहा था न कि एक गधा लाने के लिए। ले जाओ मेरी आँखों से दूर इसे।’

नेताजी का चेहरा फक् हो गया और वे बापू के पैरों पर धड़ाम से गिर पड़े। मुझसे उस वक्त न उनको उठाते बना, न उनको वैसे ही छोड़ते बना और न अकेले भागते ही बना। उस वक्त मेरी हालत भी एक बुत जैसी हो गई थी।

एक नया सफर

मुशरफ आलम जौकी

गाड़ी पर जरूरी सामान लादा जा चुका था। ड्राइवर सिर झुकाए अगले हुक्म की प्रतीक्षा में था। छोटा सा ब्रीफकेस थामे अर्धे उम्र का व्यक्ति तेजी से बाहर आया और अपनी खूबसूरत पत्नी से बोला

‘सामान मिला लो, इसलिए कि सफर अब आरम्भ होने वाला है,’ औरत मुस्कराई। इशारे से डिक्की में रखे सामानों को अपनी पतली-पतली मखरूती उँगलियाँ घुमाकर गिनने लगी। फिर वही कोलगेट मुस्कुराहट उसके होंठों पर बिखर गई।

‘चलो सफर शुरू करना चाहिए।’

उसने स्टेयरिंग सँभाल ली। औरत, जो उसकी बीवी थी, पास में बैठ गई। घर के नौकर-चाकरों ने अलविदाई सलाम दागा और गाड़ी सफर पर खाना हो गई।

‘जिन्दगी एक सफर है। यह सफर लम्बा भी हो सकता है और मुखासर भी।’ मर्द जरा देर बाद बोला।

‘यकसानियत से हर आदमी बोर होने लगता है।’ बीवी आहिस्ता से बोली।

‘जैसे हम-तुम’ मर्द ने अब बाएँ हाथ से स्टेयरिंग थाम ली और दायाँ हाथ बीवी के कन्धे पर डाल दिया।

‘अब देखो ना, हम यहीं क्या कुछ कम खुश थे। किस बात की कमी थी। नए-नए फैशन के सोफे-फर्नीचर, हर कमरे में बैड से अटैच्ड कलर्ड टी.वी, फ्रिज...हर रूम में फोन, दसों नौकर-चाकर...मगर फिर भी वही यकसानियत...’

‘यह तुमने बहुत अच्छा किया। आज की रात हम घर से बाहर ही गुजरेंगे।’ मर्द बीवी से बोला।

‘शायद हम खुश रह सकें।’

‘खुशी...यह परिन्दा जितने में मिले, खरीद लेना चाहिए।’

औरत के चेहरे पर पसीने के कुछ कतरे सिमट आए थे। रूमाल से अपना चेहरा साफ करने के बाद दोबारा वह विंडो-स्क्रीन से बाहर का दृश्य देखने में लग गई। शहर जैसे सन्नाटे में डूबा हुआ था। स्याह रात की चादर चारों तरफ तन गई थी।

जरा देर बाद औरत फिर बोली

‘हम सिर्फ एक...पुरसुकून रात गुजारने निकले हैं। क्या ऐसा होगा?’

‘जहाँ मशीनी शोर न हो!’

‘बहरहाल आज रात हमें अकेले गुजारनी है तुम भी तो हर वक्त मशीन बने रहते हो। सुबह में जिस वक्त जाते हो बच्चे सोते रहते हैं। और रात में जब आते हो तो आधी रात गुजर चुकी होती है।’

‘हाँ मैं सोचता हूँ, इतना काम हम लोग क्यों करते हैं मगर कोई जवाब नहीं मिलता ’

मर्द जरा ठहरकर कुछ सोचता हुआ बोला

‘सबसे बड़ी बात यह है कि हम सोचना बन्द कर दें। मगर यही नहीं होता। अब देखो ना...लफ्फाजी की तादाद दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है। एक लफ्फा के कितने ही लफ्फा पैदा हो गए हैं और उनके भी कितने विपरीतार्थक शब्द.. तुम महसूस कर रहे हो, शब्दों के इस जंगल से हमें क्या नुकसान हो रहा है। हमारी सोच की सरहदें फैलती जा रही हैं। हमारी ख्वाहिशें बढ़ती जा रही हैं। एक दिन जार्ज आलीवर की प्रसिद्ध नावेल 1984 पढ़ रहा था। इस नावेल की यही अदा मुझे पसन्द आई कि शब्दों को जहाँ तक हो सके, खत्म कर दो। और सोचना बन्द तमाम फसाद की जड़ यह लफ्फा हैं, जो ख्वाहिश जगाते हैं और सोच का दायरा बढ़ाते हैं। हमारे पास जिस कदर लफ्फा कम होंगे, हम कम सोचेंगे और अपराध भी कम करेंगे। यानी हमसे कोई गुनाह सरजद नहीं होगा।’

‘गुनाह अगर खूबसूरत हो तो...’ औरत के होंठों की लाली कुछ और गहरी हो गई थी।

मर्द ने स्टेयरिंग थामे हुए औरत को चूम लिया। अचानक औरत के चेहरे पर पीलाहट छा गई। मर्द ने भी एक झटके से ब्रेक ले लिया। गाड़ी चड़चड़ाकर रुक गई।

‘वह देखो सामने क्या है शायद कोई गिरा हुआ है।’

मर्द ने गौर से देखा। हाँ, सचमुच कोई गिरा हुआ था। गाड़ी अंधेरी सड़क पर खड़ी थी। मर्द इसी पसोपेश में था कि गाड़ी से उतरे या नहीं। वह आदमी सड़क के बीचोबीच पड़ा था।

‘उँह, सारा मूड चौपट हो गया।’ औरत बड़बड़ाई। मगर खौफ अब भी उसके चेहरे पर कायम था।

‘हम गाड़ी आगे नहीं बढ़ा सकते। हाँ, पीछे कर सकते हैं और क्रासिंग से दूसरी ओर मोड़ सकते हैं, मगर...’

‘मगर क्या?’ औरत झुंझलाहट से बोली।

‘मगर पता नहीं कौन है। जिन्दा भी है या मर गया।’

‘इससे हमें क्या लेना-देना!’ औरत बोली, ‘अगर किसी गाड़ी से कुचलकर मर गया है तो इल्जाम हम पर भी आ सकता है। हमें यहाँ रुकना नहीं चाहिए।’

मर्द ने दोबारा स्टेयरिंग पर दबाव डाला। फिर पता नहीं क्या सोचता हुआ वह औरत से बोला

‘तुम्हें एक घटना याद है। क्रिसमस के रोज पाल ने इतनी पिला दी थी कि मेरी गाड़ी स्ट्रीट पोल से टकरा गई थी। और मैं स्टेयरिंग के बीच झूलकर बेहोश हो गया था। एक फेरीवाले ने यह दृश्य देखा और मुझे घर तक लाने का इन्तजाम किया।’

‘तुम कहना क्या चाहते हो?’

‘यह कोई फेरीवाला भी तो हो सकता है।’

‘तुमने उसे पैसा भी तो दिया था। और उसने ले भी लिया था।’

‘वह बेचारे गरीब होते हैं, तुम यह समझती क्यों नहीं।’

औरत ने घूरकर मर्द को देखा। मर्द अचानक सम्भल गया। अँधेरे में जो चीज लेटी हुई थी, वह अचानक उठ खड़ी हुई थी। और दोनों ने साफ देखा वह कोई चौबीस-पच्चीस साल का लड़का था। हल्की-धीमी रोशनी के बीच अब वह साफ दीख रहा था। वह अच्छा-खासा पैंट-शर्ट पहने था। और अब वह अपने दोनों हाथ-पैरों को खींचता हुआ बड़े मजे में अंगड़ाइयाँ ले रहा था।

औरत एकदम से घबरा गई।

मर्द ने शीशा लगभग गिरा लिया कौन है? उसने थोड़े निकले शीशे से सिर निकालकर पूछा।

नौजवान ने बड़ी बेबसी से दोनों का जायजा लिया। फिर बड़े तीखे स्वर में उसके करीब आकर बोला, ‘मैं आत्महत्या करने के लिए सड़क पर लेट गया था। एक किताब में पढ़ा था, ऐसी मौतें बड़ी खूबसूरत हुआ करती हैं। तेजी में भागती हुई गाड़ी आ रही है और फिर गाड़ी जिस्म को रौंदते हुए आगे बढ़ जाती है और मामला साफ।’

औरत ने सिसकारी ली। उसका पूरा बदन काँप रहा था।

‘बाई द...वे,’ नौजवान मुस्कराया, ‘आज मेरी किस्मत ही खराब थी। शायद इस तरह लेटे-लेटे मेरी आँख भी लग गई थी। पता नहीं कितनी देर तक सोता रहा मगर एक भी गाड़ी नहीं गुजरी। और अब आपकी गाड़ी गुजरी भी तो...’

‘तुम बेरोजगार हो?’ मर्द ने कुछ सोचते हुए पूछा।

‘नहीं, बिल्कुल नहीं!’ नौजवान ने कहा, ‘मैं यहाँ एक अच्छी फर्म में मुलाजिम हूँ।’

‘किसी से प्रेम हुआ था जो नाकाम हो गया?’

‘मैं फालतू चीजों पर वक्त बर्बाद नहीं करता।’

‘कोई हादसा?’

‘मेरे लिए कोई भी हादसा, कोई मायने नहीं रखता।’

‘फिर पागल हो?’ मर्द से रहा नहीं गया।

नौजवान ने जोर का कहकहा लगाते हुए कहा ‘एडवेंचर...अचानक एक झटके से हमेशा के लिए आँख बन्द हो जाए, इससे बड़ा एडवेंचर और क्या हो सकता है। जिन्दगी सवाल-दर-सवाल इतनी उलझ गई है कि कहीं मेरे लायक कोई मनोरंजन नहीं रह गया। और इसलिए कुछ नया करने की इच्छा ने मुझे...’

‘और तुम यह ‘कुछ नया’ करने जा रहे थे?’ बहुत देर बाद औरत बोली। अब वह डर-भय सब भूल गई थी।

‘हाँ!’ नौजवान को गुस्सा था, ‘और आपने एडवेंचर का सारा मजा चौपट कर दिया।’

‘मगर इसके अन्जाम से वाकिफ थे?’

‘हाँ, एक बेरहम मौत!’ नौजवान मुस्कराया ‘मगर आप इतने खौफजदा क्यों हैं। यों भी जिन्दगी है क्या? ऑफिस, और ऑफिस से घर, खाना खाया, सो गए, उठ गए और फिर वही ड्यूटी। बताइए क्या यही जिन्दगी है...बोर्डम से भरी ...’

‘तो तुम इस वास्ते भाग रहे थे कि तुम्हें फुर्सत नहीं मिलती?’

‘नहीं, दरअसल मैं जीवन की एकरंगी से उकता गया हूँ और सुकून के उस अन्तिम क्षण की प्रतीक्षा में था जब चीखती हुई कोई गाड़ी मुझे रौंदती हुई...’ नौजवान ठहरा ‘जरा सोचिए, कैसा होगा वह एडवेंचर जिसे आप खुद नहीं देख पाएँगे। बाई द वे ...आज आपने सारा मूड चौपट कर दिया। अब यह इरादा फिर किसी दिन करना होगा...गुड बाई...अलविदा...’

नौजवान कन्धे झटकाता हुआ आगे बढ़ गया। पुल के एक ओर तेज-तेज उसके कदम पता नहीं किस सिम्त बढ़े जा रहे थे।

मर्द ने अपना हाथ दोबारा स्टेयरिंग पर सख्त किया। औरत ने हैरत से उसकी ओर देखा। स्ट्रीट पोल की मद्धिम रोशनी में सारे दृश्य साफ थे।

जरा ठहरकर औरत ने मर्द के कन्धे पर हाथ रख दिया, ‘सुनो!’ सच क्या है?’

मर्द ने वैसे ही, धीमी रोशनी में खुद से बेखबर आगे बढ़ते हुए नौजवान को देखकर कहा

‘सुकून क्या है?’

फिर दोनों चुप हो गए।

औरत ने मर्द के कन्धे पर सिर टिका दिया। जरा ठहरकर बोली
'सुनो, गाड़ी घर की तरफ मोड़ लो। कल सुबह तुम्हें ऑफिस भी तो जाना है।'
'हाँ!'
'घर जाते ही दोनों को उठा दूँगी।'
'यह ठीक रहेगा।' मर्द जोश से बोला।
गाड़ी अब अँधेरी सड़कों से होती हुई घर की ओर भाग रही थी।

पुनरावृत्ति

आनन्द अस्थाना

दूर तक फैली अथाह जलराशि क्षितिज के ओर-छोर तक केवल जल ही जल एक भयावह आर्तनाद और पानी के बीचोबीच उठा केवल एक हाथ फिर सब कुछ शान्त समाप्त। राय साहब की नींद अचानक उचाट हो जाती है। आँखें ऊपर टंगे पंखे पर जा टिकती हैं। सारा शरीर पसीने से तर हो चुका है। दोनों पैरों में पिछले तीन महीनों से लकवा मार गया है अतः उठ नहीं सकते हैं बेचारे। बैड लैप का स्विच पास में है। जला कर देखते हैं सुबह के साढ़े चार बज चुके हैं। बाहर आकाश पर हल्की सी सफेद चादर फैल गई है। जल्दी ही सवेरा होने वाला है।

उनका सारा संसार दुछती वाले इस कमरे में सिमट आया है। जैसे भरा-पूरा परिवार है उनका। पत्नी, दो बेटे, बहुएँ और पोते-पोतियाँ धनधान्य से परिपूर्ण और वैभव-विलास के सभी उपकरणों से सम्पन्न। पर अब! इधर सब बेमानी से हो गए हैं उनके लिए या वे ही अपनी अर्थवत्ता खो चुके हैं या शायद दोनों ही बातें ठीक हैं। सवा पाँच बजते ही नौकर एक कप चाय की प्याली उनके हाथों में थमा देता है। पूछता है, 'बाबू आज जल्दी कइसे उठ गए? का रात माँ नींद नहीं आई?' वह हमेशा चाय देने के लिए उन्हें जगाता जो है। उसे आश्वस्त करते कहते हैं कि नहीं कोई खास बात नहीं यँ ही आँख जल्दी खुल गई। वह उनके चाय पी चुकने के बाद बेडशीट व चादर हटा देता है और रबड़ की शीट लगाकर पॉट नीचे लगा देता है। उन्हें अपने ऊपर घिन आने लगती है। थोड़ी देर बाद वह फिर लौटता है, सफाई करके खिड़कियों से पर्दे हटा देता है, बाहर धूप के कुछ आसार दीखने लगते हैं। नौकर के जाते ही वे फिर नितान्त अकेले हो जाते हैं, अब सात बजे के बाद वह फिर अखबार देने आएगा, यह सोचकर वे कुछ आश्वस्त हो जाते हैं।

कभी उनको लगता है कि उनका वर्तमान मर चुका है और भविष्य अन्धकारमय है। केवल अतीत अपने डैने फैलाए उनके चारों ओर मँडराया करता हो। जब तक ठीक-ठाक थे अतीत की ओर उन्हें देखने की फुरसत ही नहीं थी पर तब और बात थी। सामने दीवाल पर टंगे तैल चित्र पर उनकी निगाह ठहर जाती है। उनके पिताश्री

जिन्हें सब काका साहब कहते थे, उनके अचेतन से निकल कर बाहर आ जाते हैं। उनको तो राय साहब लोग यूँ ही कहते हैं पर काका साहब को अंग्रेजी हुकूमत ने बाकायदा राय साहब का खिताब अता फरमाया था। खूब गोरे चिट्ठे। उन्नत ललाट, धुँधराले बाल, कानों में सोने की बालियाँ, गले में मोतियों जड़ा हार और बन्द गले का कोट जिसके बटन तक सोने के होते थे। उनके सामन्तवादी संस्कारों का उत्कृष्ट नमूना थे। उन्हें बेहद प्यार करते थे शायद बचपन ही में माँ को खो देने के कारण वे उनके प्रति कुछ अतिरिक्त सहिष्णु हो चले थे। हर सुबह उनके सिर और माथे को सूँघकर उनका आशीर्वाद देना वे आज तक भुला नहीं सके हैं। उस विशाल हृदय पिता के साथ उन्होंने कितना बड़ा छल किया था यह अपराध उनकी आत्मा तक उन्हें क्षमा न कर सकेगी। उनकी आँखें नम हो चली थीं।

प्रारम्भिक दिनों में उनकी बीमारी को जान कर इष्ट-मित्र और सम्बन्धी आते-जाते रहे पर अब स्थिति यह हो गई है कि बहू-बेटे तक अपनी सुविधानुसार दिन में एकाध बार ही आ पाते हैं, जैसे शिकवे-शिकायतों की आदत नहीं है उन्हें, पर जाने क्यों कुछ ठेस लग ही जाती है। पत्नी तो सप्ताह में एक-दो बार ही ऊपर आ पाती है पर उसकी असमर्थता का उनको ध्यान रहता है। गठिया और ब्लड प्रेशर के कारण ऊपर आने में उसे दिक्कत होती है, यह वे जानते हैं। बस यह नौकर रामधन, डाक्टर और पैरों की मालिश करने वाला कम्पाउण्डर उनकी दिनचर्या का नियमित अंग बन गए हैं। शाम कभी-कभार उनके जूनियर वकील पेचीदा मुकदमों में उनकी राय लेने आ जाते हैं तो उस क्षण उन्हें अपने 'कुछ' होने का अहसास होने लगता है। कोर्ट-कचहरी तो पाँच वर्ष पूर्व ही जाना बन्द कर दिया था। केवल कंस्टलटेंसी ही करते थे। मशविरे की फीस थी तीन सौ रु.। पर अब निःशुल्क राय देते हैं। जैसे धनोपार्जन की अब लालसा ही नहीं रही। बेटों को एक कोल्ड स्टोरेज और इस्पात की ढलाई की फैक्टरी वे लगवा ही चुके थे, पैसे की कोई चिन्ता नहीं है उन्हें। दूसरे फीस न लेने की वजह से उनका यह स्वार्थ सध जाता है कि लोग कुछ ज्यादा ही आ जाते हैं जो शाम चार से छह बजे तक उन्हें महत्वपूर्ण बनाए रखते हैं। आखिर इस शहर के वे ख्याति प्राप्त फौजदारी के वकील रहे हैं तो जब तक जीवित हैं तब तक अपने ज्ञान का अनुभव अपने जूनियर वकीलों को क्यों न दें, यही उनकी मानसिकता है। उनकी अपनी बहुत बड़ी लायब्रेरी नीचे है जहाँ से वे गाहे-बगाहे कोई न कोई किताब लिखकर बहुओं से मँगवा लेते हैं। पढ़ने का व्यसन उनसे आज तक छूटा नहीं। शाम अच्छी कट जाती है। लोगों के जाने के बाद पोते-पोतियाँ उन्हें घेर कर बैठ जाते हैं। कमरे में टी.वी. चलने लगती है। कुछ देर के लिए वे भयमुक्त हो जाते हैं। साढ़े नौ बजे तक एक गिलास दूध पीकर वे सोने लगते हैं तो बच्चे टेलीविजन बन्द करके नीचे चले जाते हैं।

तीन साल हो गए हैं। अभी पिछले महीने ही राय माधव प्रसाद जी गोलोकवासी हुए हैं। उन्होंने अपने नौकर रामधन की मार्फत एक डायरी मुझे भिजवाई थी जिसके मुखपृष्ठ पर लिखा था, गोपनीय-व्यक्तिगत डॉ. मित्तल के लिए। उसके अंश आपको पढ़ कर सुना रहा हूँ।

‘...मैंने जिस परिवार में आँखें खोली थीं वहाँ वैभव व सम्पन्नता अपनी पराकाष्ठा पर थी। जागीर के अलावा शहरी मिल्कियत, जंगलात के ठेके व कई मिलों के शेयर्स काका साहब के पास थे। उस समय अंग्रेज रेजीडेण्ट ने हमारी हैसियत 50 लाख के आस-पास कूती थी। तुम तो जानते ही होगे कि मेरे 6 महीने का होते ही मेरी माँ का देहान्त हो गया था। दादी माँ जीवित थीं जिनके सान्निध्य में मैंने माँ का अभाव कभी नहीं जाना। मुझे सीने से लगाए अपने पास ही सुलातीं और कथा-कहानी सुना कर मेरी बाल सुलभ जिज्ञासा को शान्त करतीं। मेरे आठ वर्ष का होते काका साहब ने दूसरा विवाह कर लिया। दादी माँ को बेटे का यह कृत्य बहुत नागवार लगा क्योंकि नई माँ बड़े साधारण परिवार से आई थीं जब कि मेरी माँ रजवाड़ों की थीं। इन नई माँ को मैं ‘दूजी’ कहकर सम्बोधित करता था पर उनका स्वाभाव काई हटे जल के समान निश्छल एवं निर्मल था। मुझे जिस आत्मीयता व प्यार से अपनी गोद में बिठाया था उस संस्पर्श की उष्मा मैं आज तक न भुला पाया। उन्होंने विमाता की तरह कभी आचरण नहीं रखा। वर्ष पर वर्ष बीतते गए पर दूजी की कोख न भर सकी। कितने गंडे ताबीज बदले गए, कितने हकीम डाक्टर नाकाम साबित हुए, पर वे बच्चे का मुँह देखने को तरसती रहीं। हार कर काका साहब उन्हें बम्बई ले गए। फिर एक दिन पता चला कि दूजी माँ बनने वाली है। बीरे का जन्म जब हुआ तो मैं हाई स्कूल में था। ठीक सोलह साल छोटा था मुझसे। दूजी का व्यवहार मेरे प्रति और कोमल हो गया जो दादी माँ की धारणा के प्रतिकूल था। उनका मेरे प्रति नरम रुख दादी माँ को दिखावा ही लगता रहा। मुझसे अक्सर कहती थीं कि अब तेरी इस घर में गुजर मुश्किल हो जाएगी। तेरा जमीन-जायदाद में हिस्सा भी नगण्य हो जाएगा जब कि उसूलन आधा हिस्सा तो तुझे मिलना चाहिए। मैं इन सब बातों का अर्थ समझने में असमर्थ था पर जब बार-बार मुझे घुड़ी पिलाई जाने लगी तो मेरे अवयस्क मन में संशय ने कुंडली मार ली।

बीरे घर की आँखों का उजाला था। खुद मुझे इतना लगाव था कि जब भी छुट्टियों में घर आता तो अधिकांश समय उसी के साथ कटता। जमींदारी उन्मूलन की खबर हवा में व्याप्त थी सो काका साहब ने धीरे-धीरे अचल सम्पत्ति बेचनी शुरू कर दी। उससे प्राप्त हुए रुपयों को या तो बैंक खाते में जमा कर दिया गया अथवा सोने के जेवरात बनवा डाले गए। दादी माँ की बातें रह-रह कर मेरे जेहन में गूँजने लगतीं और मैं अन्यमनस्क हो जाता।

मुझे कानून के लिए दाखिला मिल गया था। उसी साल काका साहब को दिल का दौरा पड़ा और उन्हें सदर अस्पताल में भरती करवाया गया। मैं भी उनकी देख-रेख के लिए अवकाश लेकर घर आ गया था। इसी बीच दूजी के बड़े भाई अपने बहनोई को देखने आए थे। यह शख्स मुझे हमेशा से ही काइयाँ लगता था। मिजाज पुरसी के बाद उनसे बोला 'भाई जी आपसे कुछ बातें करना चाहता था।'

'...आप बेहिचक कहिए!'

'...देखिए जमाना बहुत खराब आ गया है। बीरे अभी नाबालिग है। वह मेरा इकलौता भांजा है। ईश्वर करे आप दीर्घजीवी हों पर मैं चाहता हूँ कि आप उसके नाम वसीयत कर ही डालिए क्योंकि '

'...मैं आपका संकेत समझ रहा हूँ पर आप निश्चिन्त रहिए। बड़े भैया से उसका अहित हो ही नहीं सकता है, यह मैं बखूबी जानता हूँ।'

'...फिर भी वक्त बहुत नाजुक है खैर जैसा आप ठीक समझें।'

यह सारा वार्तालाप मैं वार्ड के कॉरीडोर में खड़ा सुन रहा था। मेरे अपरिपक्व दिमाग में दादी माँ की हिदायतें अपना फन उठाकर खड़ी हो गईं। पहली बार अपने को बहुत अकेला पाया।

अस्पताल से काका साहब ठीक हो कर घर लौट आए। दूजी ने प्रस्ताव रखा था कि उस वर्ष के कुम्भ मेले में स्नान हेतु वे लोग अवश्य जाएँगे। मैंने प्रतिवाद भी किया था कि काका साहब की तबीयत ठीक नहीं है पर वे न मानीं क्योंकि कुम्भ तो जाड़ों में पड़ना था, तब तक वे स्वस्थ हो ही जाएँगे। मैं उनकी धर्मपरायणता से वाफिक था और दूसरे शायद बीरे के जन्म के लिए उन्होंने कोई मानता मानी थी अतः मैं अधिक विरोध न कर सका।

कुम्भ मेले में जैसा कि हर बार होता है कि प्रयाग में तिल धरने की जगह नहीं थी। बमुश्किल हमें एक धर्मशाला में सिर छुपाने की जगह मिल सकी थी। संगम पर अपार भीड़ थी। पुलिस व सेना भी तैनात थी पर भीड़ के अनुपात में नगण्य ही थी। हम लोग रेंगते से इंच दर इंच आगे बढ़ रहे थे। बीरे मेरी गोद में था और हम सभी एक दूसरे का हाथ थामे हुए थे, जब हम पुल पर का आधा रास्ता तय कर चुके थे, हमें दूसरी ओर जाना था जहाँ संगम पर पूजा करवानी थी, तभी एक घटना हो गई। अस्थाई पुल में चरमराहट की आवाज हुई और भीड़ का रेला पीछे बदहवास होकर भागने लगा। हमारे पीछे वाली भीड़ भी अनियन्त्रित हो गई थी और एक कदम भी पीछे हटना असम्भव था। मैंने अपने दोनों बाजुओं में काका साहब व दूजी को दबा लिया और बीरे को कन्धों पर बिठाकर, उसकी टाँगें अपनी गरदन में कैची की तरह फँसा लीं। बाईस वर्ष की आयु में मेरी कद-काठी काफी दुरुस्त थी। तभी मैंने देखा कि सैकड़ों लोग इस भगदड़ में विलीन हो चुके थे। चारों तरफ त्राहि-त्राहि मची थी।

इस धक्कम-धुक्का में हम लोग पुल की रेलिंग के किनारे आ लगे थे।

वह एक घिनौना अमानवीय क्षण ही रहा होगा जब शैतान ने मेरे भीतर दस्तक देते कहा था ओ माधव! क्या यह सुअवसर तू यों ही गँवा देगा? यह जिसे तू अपनी गरदन से सटाए बैठा है न! यही तेरे आस्तीन का साँप बन जाएगा काका साहब तो किनारे लग ही गए हैं जाने कब बैतरणी पार कर जाएँ और दूजी अपने उस मूँजी भाई के बहकावे में आ गई तो तेरा क्या होगा? कभी सोचा है तूने? फिर तेरी नैया कैसे पार लगेगी? और और मेरा कन्धा एक तरफ को झुक गया एक हृदयविदारक चीख दहा दहा और छपाक की आवाज के साथ बीरे का जलराशि में विलीन होना मैं देखता रहा। दूजी भी छलांग लगाने जा ही रही थीं कि मेरी पकड़ और मजबूत हो गई। वे दोनों माथा पीट-पीट कर रोने लगे। उस रोदन में एक स्वर मेरा भी था।

उस दिन के बाद मैं कभी चैन की नींद नहीं सो पाया। समय बीतता गया, काका साहब इस आघात को न झेल सके और छः महीनों के भीतर ही चले गए। दूजी ने ही मेरा विवाह कराया और मेरे दोनों बेटों को अपने सगे पौत्रों-सा स्नेह दिया। यह देखकर मैं और अपराधबोध से ग्रस्त हो जाता। दूजी की बीमारी पर मैंने रात भर जाग कर, उनकी हर तकलीफ को अपनी समझ कर जैसी सेवा की, वह तुमने भी देखा होगा। पर मेरा मन आज तक मुझे माफ न कर सका। मैंने ऐसा अपराध किया था जिसका कोई प्रायश्चित ही नहीं था। मैं अपनी ही दृष्टि में बहुत गिर गया था।

मैंने ऐसा अपराध किया था जिसका साक्षी सिर्फ मैं था या ईश्वर। लेकिन मैं पेशेवर अपराधी नहीं था। मेरी आत्मा अभी मरी नहीं थी। मैं ईश्वर की सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि हर क्षण, हर पल मैं अपने अपराध के लिए दंड पाना चाहता था। मेरी ख्याति ज्यों-ज्यों बढ़ी, यश-ऐश्वर्य की श्रीवृद्धि हुई, उतना ही मैं अपने आप से अजनबी होता चला गया। क्या यही नियति है कि मेरे ऐसे जघन्य अपराधी को इतना मान-सम्मान मिले? जिस दंड को पाने के लिए मैं बेचैन रहता था, वह मुझसे कोसों दूर रहा। यह कैसा ईश्वरीय न्याय था? जीवनपर्यन्त मेरी हालत उस बच्चे की सी रही है जिसने शरारत करने के बाद दंड पाने के लिए अपना गाल स्वयं आगे बढ़ा दिया हो। जिसके लिए मैं हमेशा प्रस्तुत रहा, वह अपेक्षित चांटा मुझे कभी नहीं मिला।

आज मैं बहुत खुश हूँ। जिस दंड को पाने के लिए मैं जीवन भर अपने आपसे लड़ता रहा, वह लड़ाई आज खत्म हो गई। अभी घंटे भर बाद मेरी इहलीला समाप्त हो जाएगी। तुम सोच रहे होगे कि मैं पसीने से नहाए, भय से आक्रांत, मन-ही-मन प्रार्थना कर रहा हूँगा कि मुझे जीवन-दान दे दो प्रभु! पर नहीं तुम्हारा यह सोचना गलत होगा। तुमने बीमारी का इलाज शुरू से ही किया है पर अब बेटों का एक हमजोली डाक्टर मेरा इलाज कर रहा है। मेरे निचले हिस्से में जख्म हो गए हैं जिनसे मवाद और

पीप निरन्तर बहता रहा है। पूरे घर में एक सिसियाईध-सी व्याप्त हो गई है। मेरे पास कोई आता-जाता नहीं है और यदि आने की जरूरत होती भी है तो नाक पर रुमाल लगाए बिना असम्भव होता है। पत्नी भी चली गई। मैं अभागा उसकी अन्त्येष्टि तक में न जा सका। कल शाम को मैं आँखें बन्द किए लेटा था। थकान बहुत लगने लगती है तो चुप लेट रहता हूँ। बेटे वहाँ डॉक्टर को लेकर आए थे। मुझे सोता देख कर बाहर निकल गए। बड़ा बेटा श्याम कह रहा था

“यार डाक्टर! पापा की हालत कब तक ऐसी बनी रहेगी? तीन साल होने को आए। आखिर कष्ट सहने की भी एक सीमा होती है। उनका दर्द अब हमसे सहा नहीं जाता। अम्मा के जाने के बाद तो जैसे भी अधमरे हो गए हैं।”

...“आखिर क्या चाहते हो मुझसे?”

छोटा बोला “भाई कोई भी उपाय करो डाक्टर! इन्हें मुक्ति दिलवा दो। हम लोगों का ध्यान बराबर यहीं लगा रहता है। हमें आखिर और भी तो काम हैं पर जब मन चंगा नहीं होता तो काम क्या खाक करेंगे?”

“जैसे कहो तो मारफिया की एक ओवर डोज देकर ”

“हाँ हमें कोई एतराज नहीं। तुम संकोच न करना डाक्टर। तुम्हारी विशिष्ट सेवाओं के लिए पाँच हजार रुपए का एक चेक दे दिया जाएगा।’ यह बड़े बेटे के उद्गार थे।

आह! आज इतने वर्षों बाद यह चोट मिली। मेरा मन करता है कि किसी मन्दिर में घंटे बजा कर प्रभु को दुआँ दूँ कि वाह रे मेरे करतार! तेरे निजाम में देर सही पर अन्धेर नहीं है। मेरे सीने पर रखी कोई पाषाण-शिला जैसे अनायास हट गई हो। कितना हल्का महसूस कर रहा हूँ इस क्षण! लगता है कि सारी उम्र एक बन्द कमरे की कैद में जीता रहा हूँ आज यह खिड़की खुल ही गई उसी से उड़ जाऊँगा शायद यह मेरा मुक्ति पथ है...।

आत्मलीन जगदीश चतुर्वेदी

10 नवम्बर

एक अज्ञात भय मेरे साथ आकृति बनकर रेंगता है। गली है, जो कहीं नहीं जाती। तमाम रास्तों से कटी, हरी-पीली बत्तियों में टिमटिमाती, मनहूस गली। नीलेश ने मेरे कन्धे पर हाथ रख दिया है और मेरे कन्धों पर अपनी गन्दी भभक छोड़ रहा है। मैं चौंक जाता हूँ और मुझे लगता है कि मेरी आँखें ज्योतिहीन हो गई हैं। अन्धा हो जाना कितनी बड़ी उपलब्धि है। मैं तमाम लोगों से अलग होकर अन्धा हो जाना चाहता हूँ। पिस्सू की तरह अँधेरी गली में पसरे लोग मेरे लिए कोई अस्तित्व नहीं रखते। पर मैं उनकी आँखों में आकर्षण की चीज हूँ जो चन्द्र मिनिटों में अपनी सूखी लटों में हाथ हिलाती किसी थके-मॉदे स्कूटर-ड्राइवर के पास जाकर अपनी काँपती टाँगों को राहत देने अँधेरे में गुम हो जाएगी। अँधेरा हर जगह है और मैंने अँधेरे को काटने के लिए जेब में एक चाकू रख छोड़ा है।

13 नवम्बर

परिवार का अर्थ मेरे लिए सदैव से ही एक निरर्थक बोझ रहा है। मैं परिवार के बीच अजनबी हूँ। पत्नी से बहुत औपचारिक बात होती है। उसकी आँखों के निश्चय मुझे कौतुहल नहीं देते। मुझे खीझ होती है। उसकी आँखों में सम्बन्ध-विच्छेद की चमक है। मैं खुश नहीं हो पाता हूँ। मुझे रंजीदा आदमी भी गैर-जिम्मेदार लगता है। मैं रंजीदा नहीं हो पाता हूँ। मुझे किसी के आने की प्रतीक्षा है। वह चन्द्र मिनिटों में आएगा और हम कविता की बातें करेंगे। छोटे-मोटे रोमांस के किस्सों में हमारी रुचि नहीं है। हम 'ठोस कविता' के भविष्य पर सोच रहे होंगे और पत्नी उदास रहेगी। उसे लगता है कि धीरे-धीरे घंटों बातें करने वाले मर्द केवल औरतों की बातें करते हैं। औरतों में हमें रुचि नहीं। हम होमोसेक्सुअल भी नहीं हैं। मुझे अपने बारे में विश्वास है पर अपने दोस्त के बारे में मैं कोई स्पष्टीकरण नहीं दे सकता। दोस्तों के बारे में स्पष्टीकरण देना खतरनाक है। दोस्त अक्सर खतरनाक भी सिद्ध हो सकते हैं। सौमित्र

130 :: समकालीन कहानियाँ

मोहन आ गया है। उसने एक ग्रीक एक्ट्रेस डॉली से लिए इंटरव्यू की कुछ रोचक बातें सुनाई हैं। डॉली की बातें करते-करते हम पत्नियों की बातें करने लगते हैं और मैं डर जाता हूँ। फिर एक अज्ञात भय मुझे सताने लगता है। मैं सौमित्र के साथ एक पार्क के अँधेरे कोने में बैठा हूँ, पर मुझे लगता है कि मेरी पत्नी किसी लम्बी रस्सी के सहारे मकान से फाँदकर उतरी है और हमारे सिर के ऊपर झूलते दरख्त की टहनियों में से उसने झाँका है। मैं दोस्त से विदा लेने के लिए क्षमा माँगता हूँ। मैं घर की ओर नहीं जाता रिंग रोड की उदास सड़क पर निकल जाता हूँ।

20 नवम्बर

सर्दी मुझे अच्छी लगती है। मैं अकेले मकान में कुछ जोर से गा रहा हूँ। पड़ोस में कोई मेंढक जैसी आवाज में बोल रहा है। मैं निश्चिन्त हूँ। मेंढक-सी आवाज आती रहे, तो रात भर जागा जा सकता है। पत्नी चली गई है। मैं सम्बन्ध-विच्छेद के बाद की कल्पना कर रहा हूँ। मुझे एक नए प्रेम की याद आ रही है। कुतुब के खण्डहरों में कविता की बात करने का मन नहीं होता। मैं अपनी कवि मित्र के साथ एक अजन्ता स्थिति में मग्न हो जाता हूँ। लगता है कुतुब के पर निकल आए हैं और वह हमारी ओर झुक रहा है। मैं उसे बताता हूँ। वह डरकर मेरे पास सट जाती है। उसके सूखे बालों में एक गन्ध है। मैं उस गन्ध को नाम नहीं दे पाता। उसमें धूल और कैथराइडिन की महक है। उसके झबरीले बाल एक झटके से झाड़ी में उलझ जाते हैं, मुझे आलिंगन करना नहीं आता। उसके ओठ बेहद नर्म और लाल हैं। मैं ओठों का उपयोग ढंग से कर पाता हूँ। शायद उसकी आँखों में भी इस उपयोग की सहमति तथा प्रशंसा है। मैं उसे रात के लिए आमन्त्रित करता हूँ। शाम होते ही मैं उसकी प्रतीक्षा करता हूँ। वह नहीं आती। मैं उसे कोसता हूँ और नींद की गोली खाकर एक निद्रा-सुख की कल्पना में जागता हूँ।

24 नवम्बर

बृहस्पतिवार है। यूनिवर्सिटी में आज उसका ऑफ डे है। मुझे भी ऑफिस नहीं जाना है! मैं उसे देर से जाने का बहाना बनाता हूँ। मुझे अक्सर उसकी तनी हुई आकृति बनावटी लगती है। उसकी इस बनावटी मुद्रा को तोड़ देना चाहता हूँ। वह सार्त्र की एक भद्दी कहानी का जिक्र करती है। कहानी मामूली लड़की के सेक्स-सम्बन्धों को लेकर। मैं उससे सेक्स की बातें करता हूँ। स्टेण्डर्ड के कोजी कार्नर में उसके कन्धों के आर-पार मैंने अपनी बाँह लपेट दी है। आज उसके शरीर से भीनी मिट्टी की गन्ध है। मुझे भीनी गन्ध वाली लड़कियों के सामने रोमेण्टिक बन जाने की आदत है। मैं अपनी समस्त चेतना से उस मुद्रा को अपनाना चाहता हूँ, जिससे वह शिथिल

हो जाए। उसकी सर्द मुट्टियाँ गर्म हो जाएँ और ओंठ कांपने लगे। मैं उससे अपने सम्बन्धों की बात करता हूँ। वह बहक जाती है। सार्त्र की प्रेयसी सिमोन का आदर्श उसके लिए महत्वहीन है। उसका आदर्श क्या है? मैं पूछना चाहता हूँ। यों किसी आदर्श को लादना कितना मूर्खतापूर्ण है। मैं उसे मूर्ख समझना चाहता हूँ, पर वह मुझे वैसी नहीं लगती। मैं उसकी मित्रता को कोई नाम या सीमा नहीं देना चाहता। मैं रोमेण्टिक ढंग से उसके साथ घनिष्ठ नहीं होना चाहता। मैं कोजी कॉर्नर से उठता हूँ तो वह साथ नीचे आ जाती है। एक कब्रिस्तान के अन्धेरे एकान्त में हम एक दूसरे को छूते बैठे रहते हैं। कब्रों के बीच प्रेम करना अच्छा लगता है। मैं अक्सर प्रेम करने के लिए शमशान-भूमि, कब्रिस्तान या सूखी झाड़ियों भरे स्थान चुनता हूँ। कब्रिस्तान से लौटते हुए ज्यादा देर हो जाती है। हम स्कूटर पर वापिस लौटते हुए चुप रहते हैं और लगता है एक दूसरे से अपरिचित होकर लौटना शायद दूसरे दिन आदमी को अधिक विनम्र, मृदुभाषी और सेक्सी बना देता है। मैं उसकी आदत की सराहना करता हूँ। रात डिनर से लौटते हुए मुझे उसका तमतमाया चेहरा याद आता है और मैं मकान के एकान्त में उसकी खिलखिलाहट सुनता हूँ। मुझे प्रेम करने के बाद सोना अच्छा नहीं लगता। मैं तमाम बातों को बार-बार अकेले में दोहराता हूँ और एक स्वप्न संज्ञा में उन स्थितियों को भोगता हूँ।

27 नवम्बर

मेरी शादी की बारहवीं वर्षगांठ है। मैं अकेला बैठकर व्हिस्की पीता हूँ और धुत् होकर बाजार में निकल जाता हूँ। टी-हाउस का माहौल मुझे गन्दा लगता है और मैं उधर कम जाता हूँ। मुझे मालूम है, मेरे प्रेम-सम्बन्धों को लेकर टी-हाउस में चर्चा है। पर चर्चा करने वालों में इतना साहस नहीं कि मेरे सामने कह सकें। मुझे देखकर वे अभिवादन करते हैं। मुझे बौने लोगों के बीच बैठकर बड़प्पन का अहसास होता है। सच यह है कि मैं एक घमंडी व्यक्ति हूँ और ओढ़ा हुआ आभिजात्य मेरी प्रकृति बन गया है। मुझे अधिकचरे लोगों के बीच एक राहत मिलती है। टी-हाउस के बाहर खड़ा होकर मैं किसी बौने व्यक्ति का इन्तजार करता हूँ।

अँधेरे में मुद्राराक्षस प्रकट होता है। वह कद से बौना हो सकता है, पर सबसे अधिक मौलिक प्रतिभा इसी आदमी में है। वह 'जिरो' नाम का अंग्रेजी पाक्षिक निकालने जा रहा है। उसकी सनक का यह भी एक नया प्रयोग होगा। पिछले दिनों अपनी ठोस कविताएँ काफी चर्चा का विषय रही हैं और मेरा विश्वास है कि उसका 'जिरो' भी शून्य व्यक्तित्वों को और अधिक शून्य बनाएगा। वह रेलिंग पर खड़ा होकर तमाम अदने लोगों का मजाक उड़ाता है। पीढ़ी पुरानी हो या नई, अदनों से भरी है और जीना मुश्किल है। एक अजनबी स्थिति में मैं और मुद्रा अक्सर एक दूसरे से

खीझते हैं और फिर महीनों मिलते नहीं, एक अपरिचय के बीच खिंचे-खिंचे टी-हाउस की अलग-अलग सीटों पर कनखियों से झाँकते हैं। बहरहाल, आज वह खुश था और अपने सम्भोग के नए किस्से सुना रहा था। वह पान खाकर एक बस पर दौड़कर चढ़ गया और मैं अनाम लगने वाले लोगों के बीच चुप बैठा सिगरेट पीता रहा। जब मैं खामोश होता हूँ, तो सिगरेट पीता हूँ। मोना को सिगरेट अच्छी नहीं लगती। वह सिख है। यों सभी लड़कियाँ सिगरेट को पसन्द नहीं करतीं। पर मेरी एक मित्र सिगरेट पसन्द करती है और मैं उससे मिलना चाहता हूँ। उसे सिगरेट का धुँआ अतिरिक्त तृप्ति देता है। मैंने उसकी नशीली आँखों पर सिगरेट का धुँआ फेंकते हुए किसी गहरे आह्वान को देख कर भी टाल दिया है। मैं प्रेम-निवेदन नहीं कर पाता। मैं टी-हाउस से निकल कर सड़क पर घूमता रहता हूँ, एक अच्छे रेस्तराँ में जॉज की धुन सुनता खाना खाता हूँ और घर लौटकर अनन्त मर्द विचारों में जीने वाली लड़कियों के स्वास्थ्य की कामना करता सो जाता हूँ।

30 नवम्बर

एक शब्द सुबह से ही कचोट रहा है। लगता है, किसी बियावान के अँधेरे एकान्त में हिंस्र पशुओं के बीच मुझे छोड़ दिया गया है। मेरे टखनों में दर्द उभर आता है और ऑपरेशन के लिए काटे स्थान के टांके खुलते नजर आते हैं। लगता है, किसी ने मेरे ओठों को चूमने वाले अपने ओठ मेरी अन्तड़ियों का खून चूसने बाई धमनी पर चिपका दिए हैं। सुबह उसने मुझे एक अपरिचय का संकेत दिया था। वह, लगता है, किसी विवाहित से प्रेम नहीं कर सकती। विवाहित से प्रेम करना कितना कठिन है। प्रेमिका को प्रेमी के साथ प्रेमी-पत्नी को भी प्रेम करना पड़ता है। पर मैं ऐसा नहीं करता। मेरी तमाम बचपन की प्रेमिकाएँ विवाहिता हैं, कुछ के बच्चे भी हैं। पर मैं उनसे प्रेम करते हुए उनके पति की बात नहीं करता। मुझे उस खलनायक का प्रेम के बीच जिक्र करना अपना अपमान लगता है। यदि वे (यानि मेरी विवाहिता प्रेमिकाएँ) अपने 'उन' की बात करती भी हैं तो मैं बीच में ही अपने अधरों का इस्तेमाल करने लगता हूँ। मेरे अधर कैंची की तरह उनके शब्द और खलनायक पति का गला काट देते हैं। तो मेरी प्रेमिका ने सुबह एक शब्द से मुझे काट दिया था। उसने मुझे अंग्रेजी में 'लिटररी पार्टनर' कहा था। उसे अंग्रेजी बोलने का शक है। शायद इस शब्द का हिन्दी अनुवाद बहुत बचकाना और देहाती किस्म का होगा। वह इसे हिन्दी में प्रयुक्त नहीं कर सकती। पार्टनर हो जाना मैं खुशकिस्मती मानता हूँ गैर साहित्यिक बनने की इच्छा का गला घोट देना चाहता हूँ। 'लिटररी' शब्द पार्टनर के साथ लग जाए तो मुझे किसी उदास प्रेमी की आकृति दिखाई देती है, जैसे उमरखैय्यम या गालिब की गजलों का कोई आशिक!

ट्रेन में अच्छा लगता रहा। फर्स्ट क्लास के कम्पार्टमेंट में एक मिलिट्री कैप्टन से बात करता रहा। कप्तान मजेदार था और उसे इटास्सी तक मेरे साथ जाना था। वह सोलन का शौकीन था और उसकी दोस्ती मुझसे हो गई थी। किसी अपरिचित को अपने प्रेम-सम्बन्ध सुनाना मुझे अच्छा लगता है, ऐसा लगता है, जैसे आप दीवार से बोल रहे हों। आप बैकेट के एक आत्मलीन पात्र की तरह खुलकर अपनी बात कह सकते हैं। कैप्टन से मैं अपने 'लिटररी पार्टनर' की बुराई करता रहा। उसने बताया कि उसकी कोई 'सोलजर पार्टनर' नहीं है और उसकी तलाश में वह बंगलौर से लद्दाख तक घूमता रहा है। मैंने उसे कई ऐसे तिलिस्मी शहरों के नाम बताए, यहाँ पहुँचकर वह अपनी यात्रा-समाप्ति की घोषणा कर सकता है और दार्जिलिंग में हनीमून मना सकता है।

रात मेरा हार्ट सिंक कर रहा था और बर्थ पर लेटे-लेटे मुझे लगा कि मेरी मृत्यु किसी दिन व्हिस्की पीने के बाद ही होगी। मुझे एक व्यक्ति की याद आई और मैं उसके दुस्साहस और मद्य-संचय के विचित्र अनुभवों का स्मरण करता रहा। पिछले दिनों उसने अपने बाल मुड़ा दिए थे और वह चिम्पेंजी जैसा लगता था। मैं खिलखिलाया, तो कप्तान चौंका और 'क्या बात है पार्टनर?' कहकर उसने अपनी गर्दन रजाई में ठोंस ली। उसकी अनासक्ति मुझे अच्छी लगी और मैं अपनी प्रेमिका के स्थान पर निद्रा आने तक कैप्टन की मस्ती को दाद देता रहा। कैप्टन का पार्टनर सम्बोधन मुझे प्रेमिका के पार्टनर(?) सम्बोधन से अच्छा लगता रहा।

3 दिसम्बर

दिल्ली से बहुत बड़ा शहर बम्बई! मेरे दोस्त समुद्र को तरसते हैं, पर मैं समुद्र को याद नहीं कर सकता। कितना धिनौना लगता है समुद्र। मछलियों की गन्ध। समुद्र और कई औरतें एक-सी हैं, मैं बम्बई से भाग जाऊँगा।

कोई समुद्र को प्यार करता है। प्यार चट्टानों, खोहों और बियावानों से भी किया जा सकता है, नौका-विहार से नहीं। अपनी प्रेमिका को एक खत आज मैंने लिखा, लगा बेहद रोमेण्टिक है। मैं रोमेण्टिक होना मूर्खता समझता हूँ। मैंने खत समुद्र में बहा दिया है।

एक रेतीले टीले पर बैठकर मैंने बम्बई के खिलाफ एक लम्बी कविता लिखने की योजना बनाई और दूर से आता एक स्टीमर मुझे डूबता नजर आया। मुझे खुशी हुई कि इसी स्टीमर में मेरी प्रेमिका सफर कर रही थी। और वह रोमेण्टिक समुद्र में डूब गई है। लगा महानगर का एक हाथ समुद्र से उठ रहा है और सूर्यास्त होते ही सारे भवनों, कारखानों और चिमनियों को लील लेगा। मैंने अपने बचाव के लिए निश्चय किया कि तीन घंटे में बम्बई छोड़ दूँगा और मैं अपना सामान समेटने होटल की तरफ चल दिया।

सड़क पर गंगा प्रसाद विमल

सड़क के किनारे भीड़ जमा थी। वह मामूली भीड़ नहीं थी क्योंकि मैंने दूर से नरमुंडों की उस जमात को देखकर अन्दाजा लगा लिया कि जरूर कोई खास मामला होगा। हालांकि कई मौकों पर भीड़ बड़ी भी हो, लोग चुपचाप खड़े हों, बच्चे लोगों की टांगों के नीचे सिर फंसाए खड़े हों और लम्बूतरे नौजवान उचक-उचक कर देख रहे हों वहाँ जाकर सारा उत्साह ठंडा जाता था क्योंकि उस जगह कोई दवा बेचने वाला नसीहत भरा भाषण दे रहा होता या कोई दो आदमी एक-दूसरे को गन्दी-गन्दी गालियाँ दे रहे होते। तब निराशा भी होती और जरूरी काम के बहाने रुकने के सभी मंसूबे कमजोर पड़ जाते।

भीड़ देखकर हमेशा की तरह थोड़ी देर के लिए मैं अपना जरूरी काम भूल गया था। लोग चुप नहीं थे, इसलिए वे पेशेवर तमाशबीन नहीं थे। वे हम सब लोगों की तरह कुछ-कुछ फालतू लोग थे। उस वक्त अपने फालतूपन को सार्थक बनाए रखने की भरपूर कोशिश में वे बोलते ही जा रहे थे। जब मैं भीड़ के गोल के करीब पहुँचा तभी मैंने मिली-जुली आवाजों के बीच किसी बच्चे का चिल्लाना सुना। जल्दी-जल्दी सब कुछ जानने की उतावली में, भीड़ के गोल के कमजोर हिस्से से अन्दर की तरफ दाखिल होने की तरकीब के जरिए अनजाने ढंग से लोगों को धकियाते हुए मैं अन्दर घुसा। मेरी उतावली और 'क्या हुआ' की मुद्रा को देखकर, आगे वाला आदमी थोड़ा सिकुड़ा और जैसे ही मैं उसके करीब पहुँचा, बोला, 'सेब चुराने के जुर्म में लाल के बच्चे को खूब पीटा।' उसकी बगल में अच्छे खाते-पीते घर का मुच्छड़ नौजवान खड़ा था, बोला, 'साले चोर की तो खूब मरम्मत होनी चाहिए।'।

उन लोगों की बातें सुनकर मुझे लगा जैसे न्याय, कानून सभी का निर्णय वे ही लोग दे सकते थे। अब मेरी इच्छा सिर्फ रो, चीख रहे बच्चे को देखने की थी। आखिर मैंने सोचा जब इतनी मेहनत से भीड़ के बीच घुसा हूँ यह तो जानना ही चाहिए कि मामले की गम्भीरता किस किस की है।

'छिः-छिः' जिस आदमी को मैंने अन्दर घुसने की कोशिश में फिर धकियाया,

वह बोला। वह कथित बूढ़ा आदमी था। उसके सिर के बाल बिल्कुल सफेद थे। वे माँग की दोनों तरफ ऐसे झुके हुए थे जैसे ऊनधारी भेड़ों के बाल होते हैं। रोंपदार हिलते हुए बाल। 'छि-छिः!' वह अपनी नफरत जताने लगा तो मैंने सोचा। मेरे धक्का देने का उसने बुरा माना है। कुछ कहने से पहले पास जाकर उसकी आँखों में मैंने आँखें डालीं, तो वह बोला, 'छोटे बच्चे को मारना और वह भी इतनी बेरहमी से! निहायत बेवकूफी की हरकत है।'

'माफ कीजिए' कहकर मैं उसके आगे हो लिया। अब सिर्फ एक परत और थी, लेकिन लोग इस तरह सटे और टुंसे हुए थे कि आगे बढ़ना नामुमकिन लगता था। पहली मर्तबा मुझे अपने छोटे कद का अफसोस हुआ। फिर भी मैं उचक कर देखने से बाज नहीं आया। और मौके की बात कि उचकने की कोशिश के दौरान मैं भीड़ की अगली पांत में पहुँच गया। न जाने कैसे यह हुआ, जैसे एक तिलिस्म खुल गया हो।

लड़का फटेहाल था। यही कोई दस-बारह साल का। उसके रोने और सुबकने की आवाज बिलकुल पतली थी। लड़कियों की तरह। वह इतना कमजोर था कि मैं कल्पना ही नहीं कर सका कि वह कभी सड़क पर चला हो। यह सोच ही नहीं सका कि उसमें यह चोरी करने का दम हो। वह निहायत कमजोर और आर्थिक अरक्षा की वजह से दबू किस्म के लड़कों की तरह की चीज था। उसके चेहरे पर साफ झलकता था। जैसे वह बेहद भूखा होने की वजह से उसकी आँखों और नाक का गीलापन उसकी दर्दनाक हालत को बयान कर रहा था।

'अजीब अहमक है साला!' अगली पांत में खड़ा एक आदमी बोल रहा था, 'कबूल कर ले कि तूने चोरी की है, तो लाला माफ कर देगा। एक सेव ही चुराया है न?' लड़का चीख के बीच ही बोला, 'झूठ है। बाबूजी, झूठ है। हम अजुध्या जी की कसम खाय के बोलते हैं हमने चोरी नहीं की।'

'मर, साले! चोरी तुम जैसे ही लोग तो करते हैं।' सवाल पूछने वाला आदमी बोला।

उकड़ू बैठा वह लड़का एकदम लेट गया और जैसे तड़पने लगा।

'नाटक करता है साला!' वही आदमी बोला।

'लड़के को बहुत मारा है, जी,' वह बढ़ई किस्म का आदमी था जो लड़के के प्रति सहानुभूति जताने की भाषा बोल रहा था, 'हम तो कितनी ही देर से देख रहे हैं। फल वाला तो ऐसे मारता रहा जैसे प्राण ही खींच लेगा।' उसके हाथ में छोटी-सी आरी थी जो बातचीत के दौरान कांप रही थी। आरी का कांपता सिरा गवाह था कि बढ़ई झूठ नहीं बोल रहा था।

न जाने कब और क्यों, लोग खिसकना शुरू हुए तो कुछ देर बाद मैंने पाया कि

उस बड़ी भीड़ में अब हम चंद लोग रह गए हैं और उन लोगों के पास भी आपस में बतियाने को कोई आधार नहीं था। आधार वह लड़का हो सकता था जो अब चुप लेटा था। उसकी आँखें बन्द थीं और उसके नंगे पेट पर सांस का उतार-चढ़ाव उस खतरनाक खयाल को स्थगित करने का सबूत था जो दुर्घटनाओं के दौरान अकसर बड़े शहरों में वास्तविक हो जाता है।

बढ़ई की आरी अभी तक कांप रही थी। वह अपने आपसे बोला, “गरीब की खुनवाई कहाँ हो सकती है, भाई। उसे तो सब कुछ भुगतान पड़ता है। शुक्र है, ऊपर वाले, तू भुगतान के दिन तो उन्हें देता है।”

वह शायद कुछ और बोलता कि लड़के के जिस्म में हरकत हुई और वह चीखते हुए उठ बैठा। कुछ ही क्षणों के बाद झाग के साथ उसके मुँह से खून उलट पड़ा।

सिर्फ बढ़ई ने जाकर उसे थामा। तब मुझे भी हिम्मत आई और मैं करीब गया। बाकी लोग जैसे तमाशे का आखरी हिस्सा देखने के लिए खड़े थे।

“वह कौन फलवाला था?” मैंने बढ़ई से पूछा तो लड़के ने उंगली के इशारे से खुद बताया। सड़क पार खूब सजी दुकानों में एक फल का रस बेचने की दुकान थी काफी चमकदार। बड़े लोगों की पड़ाव जैसी दुकान। तब मुझे ध्यान आया कि यह खुली सड़क, सफाई और बड़ी दुकानें उस मुहल्ले का बाहरी हिस्सा है जो शहर की अमीर बस्तियों में से एक है।

“मैंने चोरी नहीं की, साहब!” लड़के ने हिचकियों के बीच कहा, और फिर खून उलटा। वह लाल, साफ लाल खून मिट्टी के कणों में जल्द ही सोख जाता था। वह गरीब का खून था जो उस मिट्टी में खाद की तरह शामिल हो रहा था। शायद फिर कभी वहाँ फूल के पेड़ लहलहा उठेंगे।

लड़का काँप भी रहा था। मैंने बढ़ई से कहा, “इसे अस्पताल ले चलते हैं। नहीं तो...” बढ़ई ने बहुत शांत भाव से स्वीकृति में सिर हिलाया।

पर लड़का हमारे पकड़ने के बावजूद नहीं चल पाया। वह खड़ा ही नहीं हो सकता था। किसी तरह हम लोग उसे पास ही एक डाक्टर की दुकान तक ले गए। वहाँ भीड़ थी। काफी देर बाद, फुर्सत पाकर जब डाक्टर ने लड़के की जाँच की तो कुछ लम्हों के लिए डाक्टर चुप हो गया। मुझे लगा जैसे वह कुछ याद कर रहा हो। डाक्टर ने फिर से लड़के का पेट टटोला। फिर कुछ सोचने की मुद्रा बनाई और बोला, “इसे फौरन अस्पताल ले जाओ। शायद ऑपरेशन की जरूरत पड़ेगी।

“अस्पताल!” बढ़ई ने यह शब्द दुहराया और बाहर आकर बोला, “यह जिम्मेदारी तो साहब फलवाले को उठानी चाहिए। उसी ने लड़के के पेट पर घूँसे मारे थे।” लड़का बेहाल था और उसकी आँखों में हम लोगों के लिए चमक थी।

मैं सोच रहा था, क्या होगा। हम लोग सड़क-चलते लोग थे। लड़के के सामने

हमारे काम छोटे पड़ गए थे। मैं 'फौरन' शब्द पर अटक गया जो डाक्टर ने बोला था। इसका मतलब था कि उसे डाक्टरी सहायता जल्द मिलनी चाहिए।

लड़का धीरे-धीरे जैसे बुझ रहा था। उसका चेहरा देखकर मुझे लगा जैसे किसी बड़े पेड़ से सारे पत्ते झड़ गए हों।

“छोड़ें फलवाले को,” बड़ई बोला, “जिस बेरहमी से उसने मारा है, उससे तो लगता है कि वह अब कबूल नहीं करेगा कि कसूर उसका है।”

लड़के को लेकर जब हम अस्पताल पहुँचे, तब तक वह पस्त हो चुका था। उसका स्याह चेहरा जैसे किसी दूसरी दुनिया की चीज थी।

“तुमने कुछ खाया भी है?” मैंने लड़के से पूछा तो उसने हाथ हिलाकर इनकार किया और अपनी चार उंगलियाँ खड़ी कर दीं। उसने चार दिनों से कुछ नहीं खाया था। बड़ई ने चेहरा दूसरी तरफ कर लिया बोला, “हिन्दुस्तान में यह आम चीज है। भूख और फिर बेकसूरों की मौत...” अचानक वह चीख पड़ा, “कौन पूछता है इन लोगों को।” उसका इशारा कई तरफ था और मन ही मन खोजने लग गया था कि वह कहना क्या चाहता है।

जब बड़े अस्पताल में जांच हुई तब तक वक्त का ज्यादा हिस्सा बीत गया था। फिर नाम लिखवाने की बारी आई तो वहाँ अच्छा-खासा हंगामा खड़ा हो गया। अस्पताल वाले किसी ऐसे आदमी को नहीं रख सकते थे जिसका कोई सरपरस्त न हो। बातचीत और उसे दाखिल करने की जब कोशिशें जारी कीं, तब अस्पताल वालों को पता चला कि यह तो पुलिस-केस होता है।

पुलिस का नाम सुनते ही बड़ई की आरी ज्यादा कांप गई। आरी की जगह वह मुझे कोई धीमी रेंगती चीज नजर आ रही थी।

हम लड़के को लेकर अब अस्पताल के बाहर सड़क पर थे। जो घटना सड़क पर हुई थी, वह फिर सड़क पर आ गई थी। लड़का फिर तड़पने लगा था। फिर से खून के छोटे-छोटे टुकड़े थूकते हुए वह अपने में हिम्मत बटोरने की कोशिश में लगा था।

उसे बहलाने के लिए या कहूँ अपनी तसल्ली के लिए मैंने उससे बातचीत शुरू की, “आखिर फलवाले ने तुम्हें मारा क्यों?”

हाँफते-हाँफते लड़के के मुँह से कुछ शब्द निकल रहे थे जिनका मतलब था फलवाला उसके घर की जमीन खरीदना चाहता था जहाँ झोपड़ी डालकर वे लोग रहते थे।

“पर क्यों?”

इसका जवाब लड़के के पास नहीं था। बस इतना ही कि वे बड़े लोग हैं और सारी जमीन पर, सारी चीजों पर उनका हक होना चाहिए। वह, उसके माँ-बाप, सब

उन बड़े लोगों के गुलाम थे। उनकी बहुत कम कीमत थी।

बढ़ई बैठा सुस्ता रहा था। लड़के की बात सुनकर वह भी बातचीत में शामिल हो गया।

“अब करोगे क्या?” बढ़ई ने पूछा। यह सवाल सब बातों के लिए था। इलाज नहीं होगा तो क्या करोगे, हम चले जाएँगे तो क्या करोगे, यहाँ से कहाँ जाओगे... वगैरह-वगैरह।

लड़का उकड़ूँ बैठ गया था और जवाब देने की हिम्मत बटोर रहा था। “अब.. अब फैसला करूँगा। उन लोगों से हिसाब-किताब करूँगा... यह ज्यादा दिन तक नहीं चलेगा।”

यह बेकार की थका देने वाली बातें नहीं थीं। मैं लड़के की हिम्मत का कायल हो गया था। लेकिन वह ज्यादा देर टिक नहीं पाया था। वह इस तरह लुढ़का जैसे खेल खत्म हो गया हो। हम उसकी तरफ लपके तब तक वहाँ भीड़ जमा हो गई थी।

लोगों ने घेरे को और छोटा करना शुरू कर दिया था। इनमें से ज्यादातर लोग ऊबे हुए थे। कुछ बेरोजगार लोग भी हो सकते हैं। फालतू और ज्यादा फुर्सत वाले लोग भी काफी थे। सड़क पर पड़े आदमी को देखने के लिए लोग टूटे पड़ रहे थे। जरूर कोई ऐसी मजेदार घटना का इन्तजार उन्हें होगा। पर वे लोग एक गरीब, फटेहाल को देखकर खुश नहीं हुए। वे सिर्फ निराश लगते थे। दुःखी भी नहीं थे।

हम लोग परेशान थे, क्या करें कि तभी भीड़ को चीरता एक आदमी आगे आया। लोगों ने उसके लिए जगह दी। वह बड़ा डाक्टर था। वह पास आया, उसने लड़के की नब्ज देखी “इसे जल्दी अन्दर ले चलो।” वह बोला, “अभी वक्त है।”

उसका पेट खाली था, यह मुझे मालूम था। वे उसकी चीर-फाड़ कर सकते थे। पर उसके पेट में चीर-फाड़ को सहने वाला खून नहीं था। मेरे अन्दाज से खून नहीं था।

बढ़ई अब बूढ़ा लग रहा था, बोला, “कब आएगा वह दिन जब सड़क पर ही फैसला होगा।” वह न जाने क्या बुड़बुड़ा रहा था “आज की दिहाड़ी (मजदूरी) भी गई।”

उसके बुड़बुड़ाने के बीच मुझे याद आया कि मैं घर से एक जरूरी काम से निकला था। मुझे अपने बच्चे के लिए दवाई लानी थी।

खुली सड़क पर आगे चलकर फिर भीड़ जमा थी। पर अब वहाँ रुकने की हिम्मत नहीं थी।

दिखाने के दाँत

वीरेन्द्र सक्सेना

विभागाध्यक्ष ने मुझे स्वयं फोन किया और कहा, “जरा मेरे कमरे में आइए।” मैं जब कमरे में पहुँचा, तो वहाँ एक बुजुर्ग पहले से बैठे हुए थे। मैं उनकी उपस्थिति से कुछ झिझका, लेकिन विभागाध्यक्ष ने झिझक दूर कर दी। आगंतुक से परिचय कराते हुए बोले, “आप हैं डा. अपर्णा के श्वसुर साहब।”

सुनकर मैंने उन्हें नमस्कार किया और पास वाली कुर्सी पर बैठ गया। तभी विभागाध्यक्ष बोले, “अब बताइए द्विवेदी जी मैंने इसीलिए आपके सामने अपर्णा के ब्रांच अधिकारी को भी बुलवा लिया है।”

द्विवेदी जी तत्काल शुरू हो गए, “सर! बताना क्या है। मैं तो बस यही कहने आया हूँ कि आप उस पर थोड़ा नियंत्रण और निगाह रखें। ऑफिस वह टाइम से आए, टाइम से जाए और ऑफिस-टाइम में ऑफिस से बाहर कहीं न जाए।...”

विभागाध्यक्ष ने बीच में टोका, “वह तो हम देखते ही हैं। कार्यालय का कोई भी कर्मचारी अपने अधिकारी से अनुमति लिए बिना कार्यालय-समय में कार्यालय से बाहर नहीं जा सकता। यही नियम आपकी पुत्र-बधू पर भी लागू होता है।” अपनी बात पूरी करके विभागाध्यक्ष ने मेरी ओर देखा।

मैंने भी समर्थन किया, “बिलकुल ठीक कह रहे हैं आप। जहाँ तक मुझे मालूम है अपर्णा कार्यालय-समय में तो कहीं जाती नहीं है। लेकिन समस्या क्या है?”

“समस्याएँ तो बहुत हैं,” द्विवेदी जी फिर शुरू हो गए, “हम तो दो साल में ही परेशान हो गए ऐसी बहू से। न किसी बड़े का लिहाज, न छोटों से अपनापन। वह तो चाहती है मेरे बेटे को लेकर अलग घर बसाए।”

“तो इसमें आपको इतनी आपत्ति क्यों है?” विभागाध्यक्ष ने कहा। वे आगे बोले, “आप उन दोनों को अलग कर दीजिए और खुद भी अलग चैन से रहिए।”

“यानी उसे अपनी मर्जी का करने दे। अकेली रहकर वह चाहे जो करे, चाहे जिसके साथ जाए-आए, उस पर कोई कंट्रोल न रखे? आखिर और भी घरों में तो बहुएँ हैं। वे भी नौकरी करती हैं और घर का सारा काम भी करती हैं। लेकिन यह

तो पता नहीं अपने को समझती क्या है। पी-एच.डी. है, तो कोई लाट साहब तो है नहीं। अगर वाकई योग्य होती, तो किसी अच्छी नौकरी पर न होती। एक क्लर्क ही तो है, लेकिन दिमाग है सातवें आसमान पर...।” द्विवेदी जी मानों लम्बा भाषण देने के मूड में थे।

सुनकर विभागाध्यक्ष कुछ कहें, उससे पहले ही मैं बोल पड़ा, “बात यह है द्विवेदी जी, यह सब आपकी घरेलू बातें हैं। इनके बारे में तो आपका बेटा और बहू मिलकर ही तय कर सकते हैं। हमें सिर्फ यह बताइए कि हमसे आप क्या अपेक्षा रखते हैं?”

“मेरा बेटा तो बहुत सीधा है। वह अगर कुछ सख्त होता, तो क्या इसके पर निकलते? पहले ही कतर कर न रख देता...। आखिर मैं एक रिटायर्ड आदमी हूँ। मेरी पत्नी है, दो बेटियाँ ब्याहने को हैं। लेकिन अपनी तनख्वाह से वह हम लोगों पर एक पैसा तक खर्च नहीं करना चाहती। ऐसे में अकेला बेटा सारा खर्च कैसे सँभाल सकता है?” द्विवेदी जी ने विभागाध्यक्ष से सवाल किया।

विभागाध्यक्ष ने सोचा, समस्या शायद आर्थिक ही है। इसी को लेकर घर में तनाव रहता होगा। टालने के लिए कहा, “मैं बाद में अपर्णा को बुलाकर बात कर लूंगा। और कुछ?”

“और यही सर, कि भले घरों की बहू-बेटियों की तरह हमारे घर रहे। इधर-उधर आवागमन न करती घूमे।” द्विवेदी जी मानो अपने मन की सारी भड़ास आज ही निकाल देने के इरादे से आए थे।

सुनकर विभागाध्यक्ष को भी क्रोध आ गया। फिर संतुलित स्वर में बोले, “आप कैसे श्वसुर हैं कि अपनी पुत्र-वधू पर चारित्रिक लांछन लगा रहे हैं? क्या आपके बेटे को भी ऐसी ही शिकायत है उससे?”

“मैंने कहा न बेटा बहुत सीधा है। उसकी शिफ्टों में ड्यूटी रहती है। रात की ड्यूटी करके आता है, तो दिन में सोता रहता है। दिन को जाता है, तो रात को देर से आता है। उसके पीछे यह कहाँ जाती है, क्या करती है, उसे क्या पता? लेकिन मैंने सब पता कर लिया है।”

“क्या पता कर लिया है?”

“यही कि इसका अपने मायके के पड़ोस में किसी से सम्बन्ध है, इसीलिए बार-बार बिना बताए मायके चली जाती है। बल्कि मुझे लगता है इसका दफ्तर में भी किसी से सम्बन्ध है, जिसके साथ यह दफ्तर के बाद घूमती है।”

“बकवास!” सहसा आवेश में मेरे मुख से निकल गया, अतः विभागाध्यक्ष ने घूरकर मेरी ओर देखा।

“सॉरी,” मैंने कहा, “लेकिन इन सब बातों का यह मतलब क्या है?”

“अच्छा, आप चलिए।” विभागाध्यक्ष ने गम्भीर स्वर में मुझसे कहा, “जरूरत हुई तो मैं आपको बाद में बुला लूंगा।”

“ठीक है,” कहकर मैं बाहर निकल आया। और अपने कमरे में आकर सबसे पहले एक ग्लास ठंडा पानी पिया।

अपर्णा तीन दिन से दफ्तर नहीं आ रही थी। तीन दिन पहले ही उसने किसी से फोन द्वारा सूचित किया था कि उसकी तबियत खराब है, इसीलिए चार-पाँच दिन दफ्तर नहीं आ सकेगी। सुनकर मैं समझ गया था कि क्या तबियत खराब है और चार-पाँच दिन क्यों दफ्तर नहीं आ पाएगी।

ऐसा पहले भी कई बार हो चुका था। चार-पाँच दिन बाद जब वह दफ्तर आने लायक होती, तब भी उसके चेहरे पर या अन्य अवयवों पर चोटों के निशान होते। उन्हें देखते ही अनुमान लगाया जा सकता था कि उसके पति ने उसकी कितनी बुरी तरह पिटाई की होगी।

मैं पूछता, “क्या हुआ?”

“चोट लग गई थी।...फिसलकर गिर गई थी।” वह नीचे नजर किए उत्तर देती।

एक बार आई तो दाहिनी आँख के नीचे भी काफी चोट थी। देखकर मुझसे रहा न गया, पूछा, “इस बार क्या आँख के बल फिसलकर गिरी थी?”

“जी हाँ!” उसने बहुत ही संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

अन्ततः मैंने एक दिन समझाने की कोशिश की, “ऐसे कब तक चलेगा अपर्णा! तुम अपने पति से आखिर किस बात में कम हो, जो इस तरह अपने ऊपर अत्याचार होने देती हो?”

वह रुआँसी हो आई, “तो क्या करूँ? मैं उनकी किसी गलत बात का विरोध करती हूँ तो उस घर के सब लोग एक तरफ हो जाते हैं और मैं अकेली रह जाती हूँ। पर उन्हें इतने से भी संतोष नहीं होता और वे अपनी मर्दानगी दिखाने के लिए मुझे पीटने लगते हैं। हाथ में जो आए उसी को फेंककर दे मारते हैं चाहे आँख में लगे, चाहे नाक में।”

“यह तो सरासर ज्यादाती है। तुम कुछ दिनों के लिए मायके क्यों नहीं चली जाती? फिर जब बुलाने आएँ, तो अपनी सारी शर्तें मंजूर करवाकर ही जाना।” मैंने सुझाव दिया।

“मैं मायके क्यों जाऊँ? उन लोगों ने तो शादी करके अपनी जिम्मेदारी पूरी हुई समझ ली। वे लोग कहते हैं, धीरे-धीरे सब ठीक हो जाएगा। ठीक वक्त पर ही अलग होना पड़ेगा। लेकिन अभी मेरी बच्ची बहुत छोटी है, उसे लेकर अलग-अकेली कैसे रहूँ?” उसने मुझ ही से प्रश्न किया।

“हाँ, यह समस्या तो विकट है। लेकिन अलग होने की सोचने से पहले समझौते की कोशिश क्यों नहीं करतीं? तुम अपने पति से साफ-साफ बात क्यों नहीं करतीं कि वे क्या चाहते हैं?”

“वे चाहते हैं मैं उनकी गुलाम बनकर रहूँ। मैं क्लर्क हूँ, वे भी क्लर्क हैं। लेकिन मैं चूँकि पी-एच.डी हूँ और वे सिर्फ बी.ए.इसलिए वे हीन भाव से पीड़ित हैं और मुझे डरा-धमका कर रखना चाहते हैं...”

“यह बात तो शादी के समय ही पता थी तुम्हें और उन्हें, फिर शादी क्यों की?”
शादी मैंने नहीं, मेरे माता-पिता ने तय की। अब यह बात तो मेरे हाथ में नहीं थी कि बिना अधिक दहेज दिए किसी सुयोग्य लड़के को शादी के लिए राजी कर लेती। उन लोगों ने सोचा होगा कि लड़की कमाती है, सो बिना ज्यादा दहेज के भी शादी को राजी हो गए। वरना हमारे समाज में तो पढ़ी-लिखी कमाऊ लड़की के लिए भी ढेर सारा दहेज चाहिए।”

“तो पढ़ी लिखी आत्मनिर्भर लड़कियाँ स्वयं आगे क्यों नहीं बढ़तीं और अपने लिए योग्य जीवन साथी की तलाश करतीं? मैंने तो तुम्हारे लिए एक सुझाव भी दिया था, लेकिन वह लड़का तुम्हारी जाति का नहीं था, इसलिए तुम्हीं ने मना कर दिया।”

“हो सकता है, वह मेरी गलती रही हो। लेकिन तब आप नए-नए इस दफ्तर में आए थे और वास्तव में मेरे हित-चिंतक ही हैं, इस बारे में ज्यादा आश्वस्त भी तो नहीं थी।”

मैं उसकी स्पष्टवादिता से हतप्रभ रह गया। प्रगट में कहा, “तो क्या तुम्हें अपने से बड़े, अपने ब्रांच अधिकारी की बात का भी विश्वास नहीं है?”

“अब तो काफी है,” वह कुछ सकुचा गई, “लेकिन मैं तब की बात कर रही हूँ, जब आप नए-नए यहाँ आए थे। मेरे सेक्शन वाले साथी ही तब आपके बारे में तरह-तरह की बातें करते थे। कहते थे, ‘यह आदमी बंबई से आया है, इससे बचकर रहना। सुनते हैं, इसने वहाँ अपनी स्टेनो को फांस रखा था...’ ”

“उससे क्या हुआ?”

वह भी हँसने लगी, “लेकिन मैं तो आपसे 10 वर्ष छोटी ही थी।”

“तभी तुम शुरू में मुझसे काफी दूर-दूर रहती थीं और काम से बुलाने पर भी मेरे कमरे में अकेले आती घबराती थीं। है न?”

“लेकिन अब तो नहीं घबराती। अब तो मैं आपसे घंटों बहस कर सकती हूँ। आपके साथ अकेले ही मीटिंगों-सेमिनारों में जाने को तैयार रहती हूँ।”

“वह सब इसलिए क्योंकि मैं चाहता हूँ तुम हर तरह का काम सीख लो और अपनी योग्यता के बल पर जल्दी ही यहाँ या अन्यत्र बेहतर टेक्नीकल ग्रेड में प्रमोशन पा जाओ।”

अपर्णा सुन्दर तो नहीं थी, लेकिन परिश्रमी और बुद्धिमान काफी थी। वह इस दफ्तर में मुझसे भी पाँच साल पहले से नौकरी कर रही थी और इसी बीच उसने एम.ए. की परीक्षा पास की थी तथा शोध करके पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त कर ली थी। उसकी मेहनत और लगन को देखकर ही मैं उसे शुरू से ही प्रोत्साहन देने लगा था और उसे बेहतर ग्रेड में पदोन्नति देने के लिए विभागाध्यक्ष को गोपनीय नोट भी भेजा था।

लेकिन उसकी शादी के बाद सारी स्थिति ही गड़बड़ा गई। वह दो दिन दफ्तर आती, फिर चार दिन नहीं आती। कभी अर्जित छुट्टी लेती, कभी आकस्मिक, साल भीतर ही उसे प्रसूति अवकाश भी लेना पड़ा और उसने एक बच्ची को जन्म दिया। उसके बाद भी काफी दिनों छुट्टी पर रही और जब आई तो पहले से भी ज्यादा कमजोर दिख रही थी।

अनुभाग में उन दिनों काम काफी बढ़ गया था, क्योंकि दो कर्मचारी अन्यत्र नौकरी पा गए थे और उनके रिक्त स्थान की पूर्ति नहीं हो पाई थी। मैंने अपर्णा को समझाया कि अब वह मन लगाकर नियमित रूप से काम करे, तो एक रिक्त स्थान पर उसकी पदोन्नति यहीं हो सकती है, बहुत जल्दी।

अपर्णा ने इस पर कोशिश तो की, लेकिन सफल नहीं हो पाई। कभी वह स्वयं बीमार हो जाती, कभी उसकी बच्ची को बीमारी घेर लेती और कभी उसके पति को पीटने का बहाना मिल जाता। परिणाम यह होता कि उसे बारम्बार बिना कोई पूर्व सूचना के छुट्टी लेनी पड़ती। काम का हर्ज होने लगा, तो मैं भी उसकी तरफ से उदासीन हो गया और मैंने उससे बातचीत करना भी काफी कम कर दिया।

बीच में एक बार वह सवेरे-सवेरे मेरे कमरे में आई और चुपचाप सामने की कुर्सी पर बैठ गई। मैंने पूछा, “क्या बात है माँ से मिलने जाने के लिए एक घंटे की छुट्टी चाहिए?”

“मुझे छुट्टी नहीं ऐसी जगह चाहिए, जहाँ मैं चैन से रह सकूँ। मैं आज यह सोच कर आई हूँ कि दुबारा वहाँ नहीं जाऊँगी।”

मैं चौंक गया। चपरासी को बुलाकर हॉफ सेट चाय मँगवाई ताकि उसे कुछ तसल्ली दी जा सके। प्रगट में पूछा, “तुम अकेली रह लोगी?”

“क्यों, तमाम लड़कियाँ जो बाहर से यहाँ नौकरी करने आती हैं, वे अकेली नहीं रहती?”

“उनकी बात और है। वे अकेली ही होती हैं, तुम्हारी तरह शादीशुदा या एक बच्ची की माँ नहीं।”

“मैं और बरदाश्त नहीं कर सकती। कुछ न कुछ प्रबन्ध तो करना पड़ेगा।”

“प्रबन्ध हो सकता है। तुम कुछ दिन मेरे घर ही रह सकती हो, फिर कमरा ढूँढ़ा जा सकता है। लेकिन ?”

“लेकिन क्या?”

“लेकिन यही कि तुम्हारे मायके में सूचना देनी होगी और तुम्हें अपने पति से भी स्पष्ट बात करनी होगी। वरना वे पुलिस में रिपोर्ट कर सकते हैं कि मैं उनकी पत्नी को गुमराह कर रहा हूँ।”

“वह तो जब जैसी स्थिति होगी निबट लिया जाएगा। अभी तो यही तय है कि मैं शाम को आपके साथ चलूँगी।”

और मैं उसे शाम को अपने घर ले गया। फिर पत्नी को अलग बुलाकर सारी बातें समझाई। उसने प्रगट में कोई आपत्ति तो नहीं की, लेकिन ज्यादा उत्साह भी नहीं दिखाया। रात में सोते समय बोली, “मैं आपके नेक इरादे पर शक नहीं करती, लेकिन पड़ोसियों को क्या कहूँगी। वे जब पूछेंगे, ‘कौन है, तो क्या जवाब दूँगी?’”

“कह देना रिश्तेदार हैं। नई नौकरी लगी है। कुछ दिनों बाद कमरा ढूँढ़ लेगी या गर्ल्स होस्टल में चली जाएगी।” यह सब कहते हुए मुझे यह भी महसूस हुआ कि संकट के समय एक औरत तक दूसरी औरत की मदद नहीं करना चाहती।

लेकिन अगले दिन इस मदद की जरूरत ही नहीं रही। अपर्णा के पति स्वयं ही दफ्तर आए और मेरे सामने उससे माफी माँगी। मैंने भी कह दिया, “जब यह खुद शर्मिन्दा है और माफी माँग रहे हैं, तो अच्छा यही है पुराने झगड़े भूल जाओ और परस्पर मेल से रहो।”

अपर्णा ने कोई जवाब नहीं दिया। बस सर झुकाए सब सुनती रही और उसके बाद अपने पति के साथ चली गई। मैंने भी सन्तोष की सांस ली कि समस्या इतनी आसानी से सुलझ गई।

लेकिन समस्या वास्तव में सुलझी नहीं थी, बल्कि मैं ही उसकी ओर से उदासीन हो गया था। उधर अपर्णा ने भी अब अपने दुख-दर्द के बारे में मुझसे चर्चा करना बन्द कर दिया था और मैंने सोच लिया था, धीरे-धीरे सब कुछ स्वतः ठीक हो जाएगा।

आज उसके श्वसुर के विभागाध्यक्ष के पास आने और उनकी बातचीत से मुझे फिर एक झटका सा लगा है और समझ नहीं पा रहा कि क्या कहूँ? अगर हालत इसी तरह दिनोंदिन बद से बदतर होती गई, तो उसका अन्त हत्या या आत्महत्या से होगा? लेकिन क्या और कोई भी रास्ता नहीं है जिस पर चलकर एक आत्मनिर्भर उच्च शिक्षित नारी तक पतिगृह से अलग सम्मानपूर्वक जीवन जी सके? उत्तर खोजने में मैं स्वयं को अक्षम पाता हूँ, लेकिन क्या वास्तव में हमारा समाज भी हत्या/ आत्महत्या से अलग कोई जीवित समाधान नहीं खोज सकता? और हमारे ढेर सारे कानून और नारी समर्थक आन्दोलन क्या सब दिखावे के लिए हैं?

रासो, चन्द और मोटरसाइकिल

चन्द्रमोहन प्रधान

पिछले आठ-दस दिनों से जिन प्रो. सिंह से मिलने को मैं उत्सुक था, उन्हें बाजार में अकस्मात् देखकर बड़ी राहत महसूस हुई। कुछ सामान खरीद कर मैंने दुकान के बाहर कदम रखा ही था, कि सिंह साहब मोटर साइकिल रोक कर उतरे, मैंने नमस्कार किया, मोटरसाइकिल को बड़ी सावधानी से स्टैंड पर खड़ा करने के बाद वह मुझे देख कर मुस्कराए, “कहो भई, आज इधर कैसे?”

उन्होंने मिलाने के लिए हाथ आगे बढ़ा दिया।

प्रो. सिंह मेरे बड़े भाई के सहपाठी और मित्र हैं। मुझ पर भी उनका स्नेह रहता है। मित्रों वाली बेतकल्लुफी भी बरतते हैं। उनका सम्मान करते हुए मैं शिष्टाचार का भी ध्यान रखता हूँ। वह स्थानीय विश्वविद्यालय में हिन्दी के व्याख्याता हैं, किन्तु भारतीय परम्परानुसार आदर से हम लोग उन्हें प्रोफेसर साहब ही कहते हैं।”

“प्रो. साहब,” मैंने विनयपूर्वक कहा, “कई दिनों से आपसे मिलने की सोच रहा था, किन्तु जा नहीं पाया। कुछ जरूरी काम है।”

“तुमने याद किया, हम आ पहुँचे,” वह हँसे। फिर मेरे हाथ में सामान देखकर बोले, “मुझे भी जरा तम्बाकू वगैरह लेनी है... ..”

मोटर साइकिल को उन्होंने हौले से हिला कर देखा, स्टैंड पर वह अच्छी तरह खड़ी थी। उधर से निश्चित होते कहने लगे, “इधर सड़क पर भीड़ काफी है। कोई रिकशावाला टक्कर मार दे, या कोई लड़का छू-छा न दे... ..”

उन्हें चिन्तित देखकर मैंने कहा, “आप जाकर सामान ले लीजिए मैं यहीं खड़ा हूँ, नई साइकिल मालूम पड़ती है।”

“बिलकुल नई, बल्कि नवेली कहो,” वह हँसे, सीट के मुलायम चमड़े पर कोमलता से हाथ फेरते बताया, “डेढ़-दो ही महीने पहले तो ली है। इस मॉडेल की यह गाड़ी सोलह हजार से कुछ ऊपर पड़ी है। लोगों ने राय दी, महंगी पड़ती है, सो अभी सेकेंड हैंड कोई ले लो। दस हजार में एक दोस्त एकदम नई जैसी, अच्छी गाड़ी दे रहे थे, पर मैंने कहा लूंगा तो नई ही। सेकेंड हैंड चीजें मुझे पसंद नहीं।”

मैंने अब नाम देखा पेट्रोल कैन पर, “लगती तो बहुत खूबसूरत हैं...”

“मजबूत भी बहुत है। विदेशी तकनीक से जो बनती है।” उन्हें गाड़ी के नामोच्चारण में शायद सुख मिल रहा था। नाम लेते बोले, “वैसे, मैशीनरी की चीजें नाजुक, सेंसिटिव तो होती ही हैं, सँभालना होता है। तुम जरा देखते रहना, मैं अभी आता हूँ।”

वह दुकान में चले गए।

मैं मोटर साईकिल की चौकसी करता रहा। बढ़िया स्प्रे पॉलिश और फिटिंग्स धूप में चमचमा रही थीं। पिछले पहिए की दोनों ओर एल्यूमीनियम के दो सुन्दर, पतले से बॉक्स फिट थे। उन पर ताजा उजला रंग किया हुआ था। दोनों पर एक-एक दिल की आकृति लाल रंग से बना कर उन पर एक विशेष लोकप्रिय फिल्मी तारिका के चित्र किसी पत्रिका से काट कर चिपकाए हुए थे।

प्रोफेसर साहब तो बड़े रसिक निकले। बाहरी रख-रखाव से तो वह यों छात्रों की तरह दिलफेंक नहीं लगते थे... ...।

दो-तीन ठोंगे लिए वह दुकान से बाहर निकले। जेब से चाभी निकाल कर इधर वाला बक्स खोला। उसमें ठोंगे रख कर ताला बन्द करने के बाद बोले, “हाँ भई, अब कहो, कौन-सा काम है।”

“जी, शाम को आपके यहाँ आ जाऊँ तो ठीक रहेगा? कुछ पूछना है। एक लेख...”

“खूब”, वे हँसे, “तुम्हारा वह पुराना खब्त लिखने का! अपना ही दिमाग चाटना, अपना ही खून पीना। क्या शौक पाल लिया है तुमने! खैर, शाम को तो नहीं। आज है शनिवार मिसेज को पिक्चर दिखाना जरूरी है। ऐसा करो, कि कल रविवार है। कल ग्यारह बजे दिन में आना। फ्री रहूँगा।”

नमस्कार के बदले में सिर हिलाते उन्होंने मोटरसाईकिल का स्टार्टर दबाया। जोरों की आवाज के साथ साईकिल आगे बढ़ गई।

मैंने जब विश्वविद्यालय परिसर में प्रो. सिंह के क्वार्टर के अहाते का बाहरी द्वार, खोल कर भीतर प्रवेश किया, तब दिन के ग्यारह बज चुके थे।

आसपास और भी डेरे थे। निवासियों ने अपनी रुचि के अनुसार फूल-पौधे लगा रखे थे। प्रो. साहब के दाँए बंगले में फूलों की रंग-बिरंगी बहार थी, और बाईं ओर वालों का सौन्दर्य-बोध उपयोगिता ने दबा रखा था। वहाँ सब्जी की खेती हो रही थी। इधर-उधर धरती में सूखी दरारें पड़ गई थीं। इस वर्ष अभी तक पानी नहीं पड़ा था।

छोटा-सा बरामदा। तीन सीढ़ियाँ। एक तरफ साईकिल आदि चढ़ाने के लिए

सीमेंट की बनी ढलवाँ राह, बाहरी द्वार बन्द था। मैंने चौखट पर लगा कॉलबेल दबाया।

खिड़की का परदा हटाकर गोरे रंग की एक जरा भारी बदन की महिला ने मुझे देखा, तो मैंने नमस्कार किया। ये शायद उनकी पत्नी थीं। भौहें तान कर उन्होंने पूछा, “किससे काम है?”

वे मुझे पहचानतीं कैसे! मेरे भाई तो यहाँ आते रहते थे, किन्तु मैं पहली बार ही आया था। यथासम्भव नम्र स्वर में मैंने भाई साहब के हवाले से अपना परिचय देते कहा, कि प्रो. साहब ने आज इसी समय मुझे बुलाया है।

उन्होंने दरवाजा खोल दिया। एक साधारण आकार का कमरा, ड्राईगरूम की सज्जा लिए था, स्टील का सोफासेट, एक ओर चौकी पर रंगीन चादर बिछा कर उसे दीवान का रूप देने की चेष्टा की गई थी। पुस्तक-पत्रिका-अखबारों से बेहतर, बेतरतीब लदी एक रैक।

उन्होंने बताया, प्रो. साहब कॉलोनी में ही कहीं गए हुए हैं। आते होंगे।

वे भीतर के दरवाजे से चली गईं।

एक सोफे पर बैठ कर मैंने आसपास देखा। दीवारों पर तीन कैलेन्डर लगे थे, एक में एक प्रसिद्ध सिने तारिका मुसकरा रही थी। दूसरा एक पुस्तक प्रकाशन संस्थान का कैलेन्डर था, रवीन्द्र नाथ ठाकुर के चित्र वाला। तीसरे में शिव-पार्वती सपरिवार बैठे थे। सामने की दीवार पर परिवार के किन्हीं बुजुर्ग का फोटो लगा था। बुकशेल्फ पर एक बड़ा सा रेडियो रखा था, जिसके पास ही फूलदान में बासी फूल थे। सामने सेन्टर टेबुल पर एक ऐश-ट्रे, और अंग्रेजी का दैनिक पत्र पड़े थे। पता नहीं, वे कब लौटें, मैंने हिचकिचाहट के साथ सिगरेट सुलगा ली।

प्रो. साहब के बारे में मैं जानता था, उनके पिता गाँव में काफी सम्पन्न, बड़े किसान होने के साथ ही पंचायत के मुखिया भी हैं, नौकरी इनके लिए एक शगल भर थी। गाँव में रहकर खेती करना उन्हें जँचा नहीं, सो शहर में आ गए, बस। उनकी सम्पन्नता के किस्सों से साथ इस रहन-सहन का सामंजस्य नहीं लग रहा था।

बुकशेल्फ में अधिकतर पुस्तकें कोर्स की, पुरानी दिखीं। साकेत, प्रियप्रवास, हिन्दी साहित्य के दो विभिन्न इतिहास, एक पुराना सा शब्दकोष, कामायनी सामने ही दीख रहे थे। कुछ नई पुस्तकों का आभास मिलने पर उन्हें निकाला, इंगलिश उपन्यास थे, हैरॉल्ड रॉबिन्स आदि के।

बाहर से ठंडी हवा का झोंका आया। थोड़ी देर में पानी बरसने की आवाज आने लगी। मुझे राहत महसूस हुई। अरसे बाद यह इस साल की पहली वर्षा थी। यह भी परेशानी हुई, कि प्रो. साहब के आने में और देर लगेगी।

आधे घंटे बाद पानी का वेग कम हुआ, तो मैंने चलने की सोची। पौने बारह

बज रहे थे। किंतु, भीतर कैसे कहलाऊँ। यों ही उठ कर चल देना भी तो ठीक नहीं लगता।

बाहर से मोटरसाईकिल की आवाज आई। मैं बारामदे पर निकल आया। प्रो. साहब बारामदे की ढालू सीढ़ी से साईकिल ऊपर चढ़ा रहे थे। मुझे नमस्कार करते देखकर मुस्कराए।

साईकिल को बारामदे में वर्षा की हल्की बूंदों से बचाते हुए सुरक्षित कोने में खड़ा कर उन्होंने चैन की लम्बी साँस ली। खुद भी काफी भीगे हुए थे। चाभी निकाल कर उन्होंने साईकिल में ताला लगाया, और दौड़ और का बक्स खोलकर एक झाड़न निकाल, साईकिल पर पड़ा पानी साफ करने लगे।

“लाइए, मैं पौछता हूँ” मैंने हाथ बढ़ाया, “आप कपड़े बदल लीजिए। तर हो रहे हैं।”

झाड़न मुझे थमाते वह बोले, “देखना, हल्के हाथों से। पॉलिश खराब न हो, इंजन अभी गर्म है।”

साईकिल साफ कर जब बैठक में लौटा, तो वह भी कपड़े बदल आए। कुरता और तहमद पहने थे। दीवान पर, तक्रिए के सहारे अधलेटे से उठंग गए, “बहुत देर से बैठे हो?”

“ठीक ग्यारह बजे आया हूँ। पानी पड़ने से शायद आपको देर लगी।”

बदन ढीला करते वह लगभग चित्त लेट गए। जरा विरक्त स्वर में बोले, “फँस गया था नाहक। प्रो. शुक्ला को तो जानते ही होंगे, उन्होंने एक स्कूटर लिया है। भलेमानुस को स्कूटर ही लेना था, तो अमुक मॉडल की लेता। मगर ये क्या ले आए! देख कर तो हँसी आती है। कैसी-कैसी कपनियाँ स्कूटर बनाने लगी हैं! और, सच पूछो, तो स्कूटर जनानी सवारी है। या, पैसे ही बचाने थे, तो मोपेड ले लेते! छः-सात हजार में मिल जाता।”

एक आँख दबा कर कहने लगे, “शुक्ला जी में अक्ल होती, तो इसे दूने दामों में ब्लैक कर देते, और मेरे वाली मॉडल की मोटर साईकिल ले लेते। अठारह हजार में मिल जाती। मगर बुड़्ढा है पूरा कंजूस, और डरपोक भी है। हजरत को चाहिए हल्की चीज, कि गिरने पर चोट कम लगे। स्कूटर ऐसी जनानी सवारी पर लोग कैसे बैठ लेते हैं, ताज्जुब है!” वह हँसे, “दोनों घुटने मोड़े यों बैठते हैं उस पर, जैसे कुरसी पर बैठे हों! मोटर साईकिल की तो शान निराली है। दोनों जाँघों से दबा कर बैठने में लगता है कि घोड़े पर सवार हों! फिर मैक्निज्म! मेरी वाली की मैक्निज्म की बराबरी स्कूटर क्या खाकर करेगा!”

जोश में वह उठ बैठे। दीवान के गद्दे का एक कोना उठाया, कई देशी-विदेशी पत्रिकाएँ, प्रचार फोल्डर और चित्र निकाले, जिनमें विभिन्न मोटर साईकिलों, स्कूटर

आदि के सचित्र विवरण दिए हुए थे।

भीतर से एक लड़कानुमा नौकर आकर दो कप चाय रख गया। उन्होंने एक कप मुझे थमाते हुए कहा “भई पेट्रोल आजकल बहुत महँगा है। लेकिन घटिया सवारी लेने पर जो पार्ट-पुर्जो, मरम्मत आदि पर बार-बार खर्च होता है, वह पेट्रोल कुछ ज्यादा खपता है, माना पर, मैशीन इतनी बढ़िया होती है, ठीक से रखें तो सालों भर मरम्मत के बिना ही काम देती रहे। फिर, कारब्यूरेटर इस में जपानी लगा दो, तो क्या कहना! फिर तो, प्रति लीटर दस किलोमीटर ज्यादा लो! फिर, इस मॉडेल के क्या कहने! ऐसी भारी-भरकम चीज है, और चलती है यों स्मूथली, लचकती, जैसे हवा के पंखों पर सवार होकर बिहारी की नायिका ही तिरती चली जा रही हो... ..”

मुझे मुसकराता देख कहने लगे, “नायिका वाली बात मैंने यँही नहीं कह दी, भाईजान, आप दसियों किस्म की मोटर साईकिलों में मेरी वाली खड़ी कीजिए, और खुद देख लीजिए। ऐसी स्ट्रीमलाईन्ड, सुपीरियर क्वालिटी की ग्लैमरस, और सब के बीच रानी सी...ऐसा मॉडेल आपको ढूँढे नहीं मिलेगा।”

वह उचक कर सीधे बैठ गए। कागजों में गति, पेट्रोल, रख-रखाव आदि के आँकड़े दिखाने शुरू किए। जरा जोश के साथ बोले, “भाईजान, मैं तो जो भी काम करता हूँ, कायदे से करता हूँ। साईकिल लेनी हुई, तो साल भर पहले से ही सभी कंपनियों के विभिन्न मॉडेल टटोल, जानकारों से बातें की, मिस्त्रियों की खुशामद की, पेट्रोल पम्प वालों से राय ली, डीलरों की दरबारगीरी की...यों समझें आप, मैंने इस सब्जेक्ट का अर्क निकाल लिया है, अर्क!”

आँकड़े मेरी समझ में ठीक से न आते देख उन्होंने धैर्य सहित समझा कर बताया।

बुकशेल्फ से पाईप उठाकर उसमें तम्बाकू भरते कहने लगे, “कई अकल के दुश्मन तो पैसे बचाने के फेर में मोपेड खरीद लेते हैं। भला खयाल तो कीजिए, यह भी क्या सवारी हुई? न मोटर साईकिल, न साईकिल! किसी तरह के ग्लैमर या रौब का तो नामोनिशान नहीं! और सजा ऐसी, कि बैठे, तो लगे जैसे बच्चों का डंडे पर खेला जाने वाला खेल ‘घोड़ा-घोड़ा’ खेल रहे हों!” उन्होंने जोरदार ठहाका लगाया।

“प्रो. साहब!” मैंने जरा कसमसा कर कहा, “वो, मुझे कुछ पूछना था...”

“ओ...ह!” गम्भीर होते उन्होंने दीवान पर पालथी लगा ली। हाथ के फोल्डरों, कागजों को सँभाल कर एक ओर रखते पूछा, “हाँ हाँ भई, वो बात तो रह ही गई! तुमने भी कुछ याद न दिलाया। पूछो, क्या पूछना है।”

हाथ के बैग से नथी किए पन्ने निकाल कर मैंने उनके सामने रखे, “एक लेख पर काम कर रहा हूँ, हिन्दी के प्रारंभिक स्वरूप पर। वीरगाथा साहित्य भी प्रारंभिक हिन्दी का प्रतिनिधित्व करता है, और उस युग के महत्वपूर्ण काव्य पृथ्वीराज रासो को

बहुत लोग जाली कहते हैं। यह भी, कि चंद बरदाई नाम का कोई कवि था ही नहीं। इसी के विषय में आपके विचार जानने हैं।”

प्रो. साहब के गम्भीर माथे पर तीन सिकुड़नें उभरीं। बोले, “भाई, तुम भी क्या इन एकेडेमिक विवादों में पड़ रहे हो! तुम्हारा विषय है रचनात्मक साहित्य। ये तो विश्वविद्यालयी विद्वानों के सिर दर्द हैं। इन पर अभी रिसर्च जारी है। रासो को जाली मानने वाले लोग हैं, तो असली कहने वाले भी तो बहुत हैं। चंद हुआ हो या नहीं, तुम्हें तो हिन्दी के पुराने नमूने से मतलब है, जो उसमें है ही।”

“जी, शोध तो हो रहे हैं।” मैंने निवेदन किया, “मुझे आपकी राय चाहिए। मैं खुद रासो या बरदाई को जाली नहीं समझता। इतनी लम्बी-चौड़ी कहानियाँ, बरदाई-सा विशिष्ट नाम, ये हवा से ही पैदा नहीं हो सकते। प्रत्येक कथन अथवा अफवाह का कोई आधार होता है, भले ही कितना भी हल्का हो। और, आपने कहा, कि मुझे भाषा मात्र से मतलब होना चाहिए, सो यही तो सवाल है, कि रासो में कितना समकालीन है, और कितना प्रक्षिप्त बाद में घुसाया। इसके बिना स्थिति कैसे स्पष्ट होगी!”

क्षण भर उन्होंने गम्भीरता से विचार किया। फिर शेल्फ के पास आए। देर तक इधर-उधर करने के बाद एक मोटी, पुरानी सी पुस्तक बाहर निकाली। पुस्तक पर काफी धूल जमी हुई थी। फूंक मार कर उन्होंने धूल उड़ाई। एक-दो बार जोरों से हाथ भी मारा। मेरे सामने रखते हुए बोले, “इसे ले जाओ। इसमें तुम्हें बहुत से सवालों के जवाब मिलेंगे। मैं डाक्टर शर्मा से भी बातें करूँगा। उन्हें जानते होंगे, हेड हैं।”

मैंने पुस्तक देखी। वही रामचन्द्र शुल्क का हिन्दी इतिहास। मैंने निवेदन किया, “यह तो मेरे पास भी है। और भी दो इतिहास हैं। मुझे तो खास कर रासो एवं तत्कालीन साहित्य पर कुछ विशेष सामग्री चाहिए।”

जरा असहाय भाव से उन्होंने पुस्तक वापस शेल्फ में रख दी।

“भई, लाइब्रेरियन से बातें करनी पड़ेगी,” वे दीवान पर आराम की मुद्रा में बैठे, “विषय भी जटिल है, और यह सब पढ़े भी जमाना हो गया। छात्र जीवन में तो यह सब पढ़ता रहा, अब विशेष काम नहीं पड़ता।”

उन्हें हिन्दी के वर्ग लेने होते हैं, उसमें क्या इनका काम नहीं पड़ता, मैंने पूछना चाहा, लेकिन बोला, “रासो की प्रामाणिकता के प्रश्न ने विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। पुस्तकें भी छपी हैं इस पर, ऐसा पता चला है।”

“हाँ हाँ भई, किया तो है ध्यान आकर्षित,” वे जरा खींचते हुए कहने लगे, “भई, यों समझो, कि पुस्तकें इच्छानुसार मैं नहीं खरीद पाता हूँ। इधर महँगी भी तो बहुत हो गई है। कुछ खयाल तो कीजिए, अभी दस साल पहले जो पुस्तक ढाई-तीन रुपए में मिलती थी, वह अब तीस-चालीस तक में मिल रही है। कुछ हद है!”

मेरी निगाह फिर पुरानी कोर्स बुक से लदी शेल्फ की ओर चली गई।

“बात तो ठीक कह रहे हैं। प्रकाशकों ने दाम बहुत बढ़ा दिए हैं।”

“और रोना कागज की महंगाई का!” वे उत्तेजित हो उठे, “दस-बारह साल हुए, कागज महंगा हुआ था, तब दाम आसमान छूने लगे किताबों के। अब कागज तो नीचे हो आया, पर किताबें वहीं की वहीं अड़ी हैं, बल्कि और आगे दौड़ रही हैं! सब पैसे कमाने के लटके हैं। उस पर चिल्लाते हैं ससुरे, हिन्दी वाले खरीद कर नहीं पढ़ते!”

“महंगाई तो सब तरफ बढ़ी है।”

“अजी, महंगाई?” वे उत्तेजित हुए, “कई चीजें तो आसमान छूने लगी हैं। पेट्रोल को ही लो। पहले जो चार-छः आने गैलन था, वह अब साढ़े आठ रुपए लीटर से भी ज्यादा के दामों पर बिक रहा है। पेट्रोल न हुआ, नमक-दाल हो गया, जो रोज भाव चढ़ता-उतरता है! कोई इत्र की तरह लगाए बदन में? शहर में ही घूमना चाहें, तो उसी में दिवाला निकलने लगे।

“महंगाई के हिसाब से वेतन भी तो बढ़े हैं, प्रोफेसर साहब!” मैंने दबी जुबान से कहा।

“अजी, सब बेवकूफ बनाने की बातें हैं,” तिक्त स्वरों में वह कहने लगे, “वेतन एक चीज है, महंगाई पचास तरफ से बढ़ रही है। मोपेड रखने वालों को एक लीटर में साठ-सत्तर किलोमीटर निकलता है, वहीं हम मोटर साईकिल वालों को तीस नसीब है!”

“शाही चीज है, शाही खर्च कराएगी ही!” मैंने चुटकी ली।

वे प्रसन्न हो गए। पार्सप उठा कर दुबारा तम्बाकू भरने लगे।

आज के विश्वविद्यालयी प्राध्यापक धनाधीश भले ही न कहला पाए, किन्तु वह एक हद तक आराम और विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताएँ भी पूरी कर लेता है। प्रायः उसे बड़े सरकारी अफसरों से अधिक वेतन मिलता है। प्रोफेसर साहब के आगे तो अभी वेतन वृद्धि के बहुत से मौके थे।

“गिरीश जी को जानते हो?” उन्होंने कहा, “हिस्ट्री में हैं। फिर अपने-अपने शौक की बात है। खरीदता तो मैं भी हूँ, पर क्या करूँ पेट्रोल, मोबिल, गाड़ी के रख-रखाव, निजी व्यय...खैर, गिरीश जी से तो मैं अच्छा ही हूँ, उसी पुरानी उजड़ी साईकिल को घसीटते फिरते हैं। प्रोफेसरशिप की कुछ तो डिगनिटी रखते!”

“वह शायद कुलपति की सलाह पर अमल कर रहे हैं। नगर वाली सभा में कुलपति जी ने राय दी थी न, कि प्राध्यापक पुस्तकों के साथ सम्बन्ध बढ़ाएँ...”

“दी थी तो,” वह अनमने भाव से बोले, “वी सी का क्या जाता है राय देने में, उनके पास तो कार रहती है। उनकी बात और है...”

मैंने घड़ी देखी।

“भेरी बात मानो, तो तुम भी एक मोटर साईकिल खरीद लो। हर तरह का आराम होगा।”

“मैं लेकिन, इतना खर्च...”

“अजी, एक बार का खर्च सही फिर तो जीवन भर का आराम हो जाएगा, वक्त भी बचा करेगा, ज्यादा लिख-पढ़ सकोगे।”

उनका वक्त भी तो बच रहा होगा, मेरे मन में बात आई “देखूंगा। हाथ में पैसे हों तो...”

“अजी, शुरू करने के लिए एक सेकेंड-हेन्ड ले लो। सीख लेना। कहो, तो उस गैरेज वाले से कहूँ, उस के पास बेचने वाले आते रहते हैं, जो अच्छी हालत की...”

“नहीं नहीं, अभी न कहिएगा,” मैंने मना किया, “पैसा होने पर देखूंगा...”

“जैसा चाहो भई!” वे कुछ बेजार हुए।

मैंने घड़ी देखी, पौने एक। पूछा, “तो, उस मामले में क्या कहते हैं, किस से राय लेना ठीक रहेगा?”

“भई, मैं तो हूँ न,” वह कुछ आहत हुए, “लाइब्रेरी में भी देखूंगा, जल्दी क्या है।”

“आप यह लेख तो देख लीजिए,” मैंने उनका ध्यान लेख की ओर खींचा।”

अनमने भाव से उन्होंने दो-तीन पंक्तियाँ पढ़ीं। कुछ पृष्ठ उलटे, बीच में पढ़ने लगे। मुसकराए “भई, तुमने तो खासा रिसर्च वर्क कर रखा है!”

“शोधकार्य में क्या जानूँ, प्रोफेसर साहब! बस, विषय का सही रूप से प्रतिपादन व निर्वाह हो।”

रचना टेबुल पर रखकर वह पुनः पाईप सुलगाने लगे।

“प्रोफेसर साहब!” मैंने विनीत भाव से कहा, “जरा पूरा लेख आप ध्यान से देख लेते...”

“देख लूंगा भई,” उन्होंने मुझे आश्वस्त किया, “विषय जटिल है। बाद में इतमीनान से देखूंगा। ऐसा करो, इसे अभी यहीं रहने दो।”

मैं चुप रहा। लेख की प्रतिलिपि मेरे पास थी। मैं सब्र सकता था।

“तो कल आऊँ।”

“भई, कल तो न होगा। तीन-चार दिन में आकर ले लेना। ऐसा है, कि गाड़ी के बारे में सूचनाएँ इकट्टी की है, उन्हें समझने में लगा हूँ। मैं हिन्दी का प्रोफेसर ठहरा, इंजीनियर थोड़े।” वह हँसे, “तमाम दुनिया यों ही मोटरसाईकिल चला रही है, लोग चढ़ते हुए सीख लेते हैं पर भई, मैं कायदे से करने में विश्वास रखता हूँ। बिना समझे-बूझे गाड़ी रखना, सफेद हाथी पालना है। वही मसल, कि बीछू-मंत्र न जानई, साँप पिटारे हाथ! थ्योरिटिकली इन्हें पढ़ रहा हूँ, प्रैक्टिकली गैरेज वालों से सीख रहा हूँ। कहो, कैसी रही?”

“ठीक ही है, जब गाड़ी ली है, तो हर तरह से समझ-बूझ लेना ठीक है,” मैंने राय दी।

“दैट्स द स्पिरिट।” उन्होंने जोश में कहा, “हम हिन्दुस्तानी हमेशा के लीचड़ होते हैं। किसी तरह काम घिसट भर ले, हो या न हो! काम का एक वेल्यू होता है, रिफाइंड ढंग से करने का अपना एक ग्लैमर होता है। सर्वोत्तम परिणाम के लिए परिश्रम शर्त है, हम कब सीखेंगे!”

“तो लेख यहीं रखे जाता हूँ।”

“हाँ हाँ तुम बेफिकर रहो। मैं इतमीनान से पढ़ूँगा, आवश्यक सामग्री की भी खोज करूँगा।”

“तो, कब मिलूँ?”

उन्होंने कुछ सोचकर कहा, “आज रविवार है ऐसा करो, इसी बृहस्पति को मिलो।”

“दिन में तो आप कॉलेज में होंगे, मैं सुबह...”

“नहीं नहीं,” वे व्यस्त हुए, “सुबह मत आना, मैं आजकल सबरे सात से नौ तक यूनिवर्सल गैरेज में रहता हूँ। मेरे एक छात्र का पिता उसका मालिक है, वही सिखा रहा है।”

वे तुष्ट भाव से हँसे।

“तो कल शाम को ठीक रहेगा?”

“शाम को तो अपना मटरगस्ती का प्रोग्राम रहता है। मिसेज भी अकसर साथ बैठ लेती हैं, तो पिक्चर का प्रोग्राम बनता है। नहीं, शाम को ठीक नहीं। और, रात को तो घूम-फिरकर थक जाता हूँ। टी.वी. देखता हूँ। कुछ लाईट चीजें पढ़ता हूँ। ऐसा करो, उस दिन कॉलेज में ही आना। वहीं ठीक रहेगा। लाईब्रेरी भी खुली रहेगी।”

“लेख आप...”

“हाँ हाँ लेख आज ही पढ़ूँगा,” उन्होंने लेख उठा लिया।

नमस्कार कर मैं बाहर निकला। वे भी मेरे पीछे बरामदे तक आए। बूँदाबाँदी जारी थी।

आहाता पार कर जब मैं लकड़ी के छोटे से गेट के बाहर निकला, और गेट बन्द करने को मुड़ा, तो देखा, प्रो. सिंह लुंगी समेटे, घुटनों के बल बैठकर झाड़न से मोटर साईकिल का पिछला पहिया साफ कर रहे हैं, और मेरा लेख वहीं सीढ़ी के पास जमीन पर रखा है।

वर्षा की बूँदें सीढ़ियों तक पहुँच रही थीं। मुझे फिक्र हुई, कहीं लेख भींगने न लगे...हल्की बूँदा-बाँदी में मैं खुली सड़क पर निकल आया।

क्षति-पूर्ति

राजेश जैन

मीटिंग दूसरी बिल्डिंग में थी। लौटते हुए उसे देर हो गई। साढ़े छह बज गए। जब वह अपने दफ्तर की बिल्डिंग में आया तो सर्वत्र सन्नटा था। अधिकांश लाइट्स बन्द हो चुकी थीं। वह भागता हुआ अपने फ्लोर पर पहुँचा तो पाया कि रूम के दरवाजे पर लॉक लगा था। आसपास कोई चौकीदार भी नहीं था। वह दिल्ली में नया आया था उसे अपने दफ्तर के कायदे-कानून भी पूरी तरह ज्ञात नहीं थे। घड़ी देखी छह बजकर चालीस मिनट हो रहे थे सात बजे बीमार बच्ची के लिए डॉक्टर से अप्वाइंटमेंट था। किसी भी हालत में उसे घर पहुँचना था। उसने जेबें टटोलीं स्कूटर की चाबी जेब में थी। उसे तसल्ली हुई पर हेलमेट अन्दर ही रह गया था ब्रीफकेस भी।

जल्दी ही वह नीचे उतर आया और स्कूटर लेकर चल पड़ा।

दूसरे दिन सुबह वह बगैर हेलमेट के स्कूटर पर दफ्तर के लिए निकला। जैसी कि उसे शंका थी चौराहे पर ट्रेफिक पुलिस के सिपाही ने उसे रोक लिया, सहसा उसे लगा वह पंछी की तरह जाल में फंस गया है अब सिवा फड़फड़ाने के वह क्या कर सकता था?

सिपाही ने उसे इम्पेक्टर के सुपुर्द कर दिया। रोड के किनारे चालान बुक लिए खड़ा था।

‘हेलमेट के बिना क्यों जा रहे हैं?’

‘जी, कल शाम ऑफिस में लॉक लग गया...मैं मीटिंग में था, इसलिए हेलमेट वहीं अन्दर रह गया...।

‘पचास रुपए फाइन...।’

एकाएक उसकी आँखों के सामने दिल्ली के खर्चे घूम गए। बच्चों की फीस.. .दवाइयों और फलों की कीमतें...पेट्रोल...बिजली का बिल...बीबी और रिश्तेदारी की जरूरतें...जब से वह दिल्ली आया था खर्च ही खर्च हो रहा था। मानो नल की टोंटी खराब हो गई हो बन्द ही नहीं हो रही हो...कितना भी घुमाओ, पानी की तरह पैसा

लीक होता जा रहा था।

‘पर साब, बिलीव मी...मैं अभी हेलमेट ले आता हूँ। गाड़ी यहीं छोड़ जाता हूँ’
..मैं क्या करता...वो ऑफिस में लॉक लगाकर चले गए...मैं मीटिंग में था...हेलमेट वहीं रह गया...।

‘नो...गाड़ी के पेपर्स हैं...’

‘यस सर!’

वह पेपर दिखाने लगा।

‘गाड़ी बाहर की है...नम्बर चेंज नहीं कराया...’

‘हम अभी आए हैं दिल्ली में...’

‘हर कोई यही कहता है।’

‘नहीं जी, आई एम एज रिस्पॉसिविल एज यू आर...’

‘कितना टाइम हुआ?’

‘यही पंद्रह दिन।’

‘आपने दिल्ली में बगैर हेलमेट लगाए किसी को स्कूटर चलाते देखा?’

‘जी अभी तो बहुत कुछ देखना बाकी है फिलहाल बच्चों के एडमीशन के लिए अच्छे स्कूलों, सामान के लिए सस्ती दुकानों और दूसरी समस्याओं को निपटने के लिए सोर्स देखता घूम रहा हूँ।’

इंस्पेक्टर चालान बुक में कार्बन लगाने लगा। उसके हाथ से तोते उड़ गए।

‘फिफ्टी रुपीज फाइन...अण्डर सेक्शन 63... मोटर व्हीकल एक्ट...’

‘पर मुझे एक चांस दीजिए...मैं रूल तोड़ना नहीं चाहता...मजबूरी थी...फिर मेरी वजह से किसी का कोई नुकसान तो नहीं हुआ।’

‘कानून कानून है...’

‘मानता हूँ कानून अंधा है पर आप तो अंधे नहीं हैं। आप हालात समझ सकते हैं?’

उसकी गिड़गिड़ाहट का कोई असर नहीं हुआ। इंस्पेक्टर चालान भरने के लिए तत्पर था। उसने कुछ सोचा और गम्भीरता से बोला ‘जस्ट ए मिनिट...’

इंस्पेक्टर रुक गया।

उसने बोलना जारी रखा ‘क्या फायदा चालान काटने का। इस महंगाई में इन पचास रुपयों से मेरे बच्चे की एक महीने की फीस पूरी हो जाती...अब ये बेमतलब के लिए जाएँगे...’

‘बेमतलब क्यों सरकार को जाएँगे...महंगाई सबके लिए है!’

‘अरे सरकार को क्या जाएँगे...इनसे क्या होगा? ज्यादा से ज्यादा किसी बड़े अफसर या मंत्री के निजी कुत्तों के लिए बिस्किट ही तो जाएँगे इन रुपयों से या

इनडायरेक्टली इन पैसों का पेट्रोल साहबों की बीबियों को सरकारी गाड़ी में शॉपिंग कराएगा...'

इंस्पेक्टर ने घूर कर उसे देखा। तब तक उसने जेब से रुपए निकाल लिए, और बोला 'यह लीजिए पचास रुपए चालान मत काटिए...मेरी नहीं तो कम से कम आपके बच्चे की फीस पूरी हो सकेगी! मैं नहीं चाहता कि फजूल ही सरकारी खजाने में ये जाएँ और इनका दुरुपयोग हो...'

इंस्पेक्टर ने चालान बुक बन्द कर दी, और बीस रुपए लौटाते हुए कहा 'मेरे बच्चे की फीस, बस इतनी ही है।'

'थैंक्यू' कहकर वह चल पड़ा और सोचने लगा डॉक्टर से अब जल्दी ही बोगस मेडिकल क्लेम बनाना होगा, ताकि इन तीस रुपयों की क्षति-पूर्ति हो सके!

ईश्वर यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'

मेरे मित्र ने मुझे एक जोरदार कहानी सुनाई कि एक सेठानी थी। उसके दो बेटे थे। एक बेटा आस्तिक था और दूसरा नास्तिक। आस्तिक सुबह-सुबह ईश्वर की पूजा करता और जप भी। नास्तिक बेटा जैसे ही वह पूजा करके उठता, जैसे ही वह आस्तिक के ईश्वर को कचरे में फेंक आता। यह सिलसिला चलता रहा। एक दिन ईश्वर ने सेठानी को सपने में कहा, “सुन सेठानी। यदि तू अपने नास्तिक बेटे को नहीं रोकेगी तो मैं तेरे आस्तिक बेटे को दंड दूँगा, उसका अहित कर दूँगा...”

सेठानी ने प्रार्थना की, “हे प्रभु! जो उद्दंड है, उसे दंड न देकर भले को सताना कहाँ का न्याय है?”

पर ईश्वर अपनी बात पर अड़ा रहा। लाचार सेठानी ने सब कुछ ईश्वर पर ही छोड़ दिया। न जाने क्यों ईश्वर उस नास्तिक को दंड नहीं दे रहा था।

इस कहानी को सुनकर मुझे एक और कहानी याद आ गई। शिखा की कहानी! शिखा, एक सरकारी कर्मचारी। विद्रोहिणी और गले-सड़े मूल्यों के प्रति तीव्र विरोध करनेवाली एक युवती।

शिखा की शादी राजस्थान की परम्परा के अनुसार दस वर्ष में ही हो गई थी। अत्यन्त रूपवती और संवेदनशील शिखा को पति परमेश्वर मिला तो एकदम रूखड़ और घोंचू तबीयत का।

ससुराल की आर्थिक स्थिति भी ठीक नहीं थी। अतः गौने के पूर्व ही उसके भाई ने समझ लिया था कि इसे पढ़ाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो कभी शिखा भूखों मर सकती है। इसलिए शिखा की पढ़ाई शुरू कराई गई। हिन्दी प्रथमा के बाद मैट्रिक। उसके बाद बी.एस.टी.सी. की ट्रेनिंग।

और गौना होते ही वह नौकरी लग गई। जैसे शिखा के ससुरालवाले अपने को खानदानी समझते थे पर अभावों के सामने उनका खानदानी गौरव धूल में मिल गया और बहू को मास्टरनी बनाना पड़ा।

शिखा दस बजे पाठशाला जाती थी और शाम को वापस आती थी। कारण

उसका स्कूल घर से दूर था। वापस आते-आते वह थकान से टूट सी जाती थी। फिर खाना बनाती थी, बर्तन साफ करके वह जब सोने लगती थी तब उसका नीरस और अनपढ़ पति उसे ग्रसे बिना नहीं रहता था। उसे लगता था कि नारी का जन्म अभिशप्त है। सहिष्णुता की भी एक सीमा होती है। सीमातीत कोई भी वस्तु असह्य होती है। शिखा के प्रति उसके ससुराल वालों का रवैया जानवर से ज्यादा नहीं था। उसने नौकरी के साथ-साथ पढ़ाई की। बी.ए., बी.एड. होने के साथ-साथ वह एक बेटी और एक बेटे की माँ बन गई।...और सास के साथ-साथ उसके पति का बर्ताव भी बदलता गया जबकि वह चपरासी था। फोर्थ-क्लास का कर्मचारी पर पति तो पति होता है। एक दिन की बात है। शिखा अपनी तनखा अपने पर्स में रखकर अप्रत्याशित प्रधानाध्यापिका के बुलावे पर गई। वापस आकर वह अपने काम में लग गई। जब छुट्टी हुई तब वह घर आ गई। घर आने पर उसे पता चला कि उसकी तनखा किसी ने चुरा ली है। बस इस बात को लेकर शिखा और उसके भावनाहीन पति के बीच ठन गई। ऐसी ठनी कि उसके पति ने उसे पीट दिया और आदेश दिया, “इस घर में रहना है तो मेरे सामने चूँ-चप्पड़ करने की जरूरत नहीं। तुम्हारी धोखेबाजी नहीं चलेगी।”

शिखा का भावुक व संवेदनशील हृदय इस झूठे आरोप को सहन नहीं कर सका। उसने विरोध किया। जबरदस्त विरोध। फिर क्या था कि शिखा और उसके पति महेन्द्र के बीच दुराव पैदा हो गया। दुराव बनता गया। सास ने इस लड़ाई में खलनायिका का काम किया। आखिर उसे ससुराल छोड़नी पड़ी। फिर कई बार समझौते हुए और कई बार टूटे। अन्त में शिखा ने निर्णय ले लिया कि वह अब कभी भी ससुराल नहीं जाएगी।...वह नहीं गई। जब उसके अतृप्त तन का जुड़ाव शिरीष से हुआ तब तो समाज और परिवार ने उसे छिनाल घोषित कर दिया। यह कितनी पीड़ादायक स्थिति है कि पुरुष अपनी वासाना की भूख मिटाने के लिए अलग-अलग रेस्तराओं में भले ही चला जाए पर यदि औरत पेट की भूख मिटाने के लिए भी कहीं चली जाए तो आज की पुरुष प्रधान व्यवस्था उसे कलंकित कर देती है। शिखा को एक अच्छे साथी पति की तलाश थी, उस तलाश में कई पड़ाव आए और गए, पर शिखा को उसके अनुकूल पति या साथी नहीं मिला। उसकी समझौते की मानसिकता खत्म हो गई थी। एक बार उसकी खास सहेली अन्नपूर्णा ने कहा था, “मनुष्य को कहीं न कहीं समझौता करना ही पड़ता है, बिना समझौता और पाखंड के इस संसार में नहीं जिया जा सकता।”

तब शिखा ने गम्भीर होकर कहा था, “समझौता ही करना था, मन को ही मारना था तब पहला पति क्या बुरा था? अनु! जिस तरह पुरुष को पूर्ण स्त्री की जरूरत होती है, उसी तरह स्त्री को भी पूर्ण पुरुष की तलाश होती है। यदि ऐसा नहीं होता, तो कृष्ण को राधा की तलाश नहीं होती, और विवाहिता सुपियारदे नरवर के

पास नहीं आती। पूर्णता का अभाव ही जीवन की अस्थिरता है। तुम समझती हो कि मेरा भटकाव क्या सैक्स के लिए है नहीं-नहीं, यह भटकाव है पूर्ण पुरुष की तलाश।”

“पर तुम्हारे बच्चे बड़े हो रहे हैं।”

“हाँ अनु, यह भय जरूर मेरे भीतर पैदा हो गया है। कभी-कभी वे अनहोना न कर दें। तब एक आतंक का ठंडापन भीतर घुस जाता है।”

“सही कहती हो। यह भय तो मुझे भी अपने बच्चों से लगता है। जब मैं उनकी इच्छा को पूरा नहीं करती हूँ तो उनकी आँखों में एक विचित्र सी हिंस्त्रता चमकती है जो आदमखोर शेर की आँखों में होती है।”

शिखा ने लम्बी साँस लेकर कहा, “क्यों जन्म लेती है नारी! क्यों पैदा करता है ईश्वर उसे? यह ईश्वर सचमुच अत्यन्त क्रूर है।”

और जो सोचा था, वही हुआ। जैसे-जैसे बच्चे बड़े हुए जैसे-जैसे शिखा उनके आतंकों से घिरती गई। उनके तर्कों व प्रश्नों से बिंधती गई। परिणाम यह निकला कि वह अपने में सिमट-सी गई। अन्तर्मुखी होती गई। मन कितना ही प्यासा हो पर उसने ऐसा अभिनय किया मानो उसकी सारी आस्थाएँ अपने बेटे-बेटी के लिए ही हों। जिस ईश्वर के प्रति उसमें अनास्था थी, वितृष्णा थी, उसके अस्तित्व के प्रति अविश्वास था, उसने उसी ईश्वर का मंदिर बनाकर पूजा-पाठ का पाखंड करना शुरू कर दिया, सिर्फ इसलिए कि उसके और उसकी संतानों के बीच सम्बन्ध सही बने रहें। वे उसे बदली हुई समझें। और उसकी तपस्या सफल रही। लड़की बी.ए. करके ससुराल चली गई और बेटा डाक्टरी के अंतिम वर्ष में आ गया। शिखा के बालों में सफेदी झलकने लगी। चेहरे पर ढलती उम्र की रेखाएँ उभर आईं। वह ईश्वर के प्रति मन से कभी भी समर्पित न हो पाई क्योंकि जो जीवन उसने जिया, वह इच्छाहीन जीवन था।...

और एक दिन ईश्वर ने वही किया जो उसने सेठानी के साथ किया था। यानी शिखा की ईश्वर के प्रति अनास्था और अविश्वास का दंड उसके सीधे और विकसित होते एकमात्र बच्चे को दे डाला। उसका बेटा अचानक बीमार पड़ा। पेट में भयानक दर्द हुआ। दर्द बढ़ता गया। जब डाक्टरों ने पेट को खोला तो स्तब्ध रह गए। कैंसर फैल गया था। देखते-देखते उसके बेटे की मृत्यु हो गई।

मैं भी वहाँ गया था। उसके बेटे की लाश को देखकर मुझे लगा कि ईश्वर जैसे कह रहा है शिखा तू विद्रोहिणी है, मुझ पर अविश्वास करती है। मेरे अस्तित्व का उपहास करती है, देख मैंने तेरे सीधे-सादे बेटे का मार डाला है। देखा, मेरा प्रकोप . ..मैं ईश्वर हूँ...ईश्वर।

और मेरे भीतर अलग-अलग विचारों की कई आँधियाँ उमाड़ आईं और फिर मैंने भी बुझते हुए स्वर में कहा, “हाँ, तू ईश्वर है, ईश्वर!”

चिड़िया

रमणिका गुप्ता

वह अस्पताल के स्पेशल वार्ड में भर्ती है। छत पर दो पंखे हैं, एक के ऊपर वाले खोल में जो रॉड पर छत से सटा है, दो चिड़ियों का घोंसला है, वह चिड़ा-चिड़ी भी हो सकते हैं। पर न जाने क्यों दोनों एक साथ नहीं बैठते। चकवा-चकवी की तरह अलग-अलग ही रहते हैं। एक जो उन में मादा दिखती है वह चिड़िया घोंसले में घुसी, दूसरी शायद जिसे न यानि चिड़ा कहना ही ठीक होगा हालांकि वह मादा चिड़ी से छोटा दिखता है, कद में भी छोटा दिखता था, घोंसले के बाहर पंखे के खोल पर ही बैठा रहा। केवल अन्दर की आहट सुनता रहा।

एकाएक चिड़िया उड़ कर कमरे के बरामदे में खुलने वाले दरवाजे पर बैठ गई जो कमरे के अन्दर की तरफ खुला था। फुदक कर चिड़ा ठीक दूसरे पल्ले पर बैठ गया। दरवाजे से फट से चिड़िया उड़ी जैसे स्प्रिंग दब गया हो कहीं। वह पंखे के पंख पर बैठकर चोंच रगड़ने लगी। बस ठीक चिड़ा भी उसी वक्त उड़ा और पंखे के पंखों के ऊपर खोल पर जा बैठा जिस में घोंसला नहीं था। आँख-मिचौनी का यह खेल देर तक चलता रहा।

चिड़ा इसका बेटा है या पति यह मालूम नहीं चूँकि पशु पक्षियों में बेटा बड़ा होकर पति बन जाता है और अपनी नस्ल बढ़ाता है। भेद केवल नर-मादा का होता है, वह भी चिड़ियों में पता नहीं चलता। उनमें रिश्ते नहीं होते। चिड़िया अंडे देती है, शरीर की सारी ऊर्जा, उसकी ऊष्मा समेट अन्डों में सांस भरती है, और उसकी गर्मी से अंडे टूटते हैं और पैदा होते हैं नन्हें-नन्हें बच्चे, कोमल-कोमल, भोले-भाले, शक्तिहीन पंखों वाले, मखमली रोंएदार डैनों वाले, नन्हीं चोंच, छोटे पंजे और बन्द पंखों वाले। चिड़िया अपनी चोंच से दाना डालती है, खिलाती है, पालती है। पानी को भी चोंच में ही भर कर पिलाती है। डैने खिलाती है। उड़ान सिखाती है।

जब बच्चे बड़े हो जाते हैं तो बच्चे नर बन कर उनकी चोंच में चोंच डाल कर उनके गर्भ में बीज डालते हैं, प्रजनन की धुरी पर यह चक्र घूमता रहता है। कुम्हार के चाक की तरह घूमता है।

यह तो आदमी ने जब से अपने अगले दो पाँवों को हाथों में बदल डाला, मस्तिष्क में विचार और मुँह में बोली भर ली तो उसने रिश्ते गढ़ लिए, चिन्ताएँ पाल लीं, सपने और आकांक्षाएँ रच लीं। हालांकि रिश्ते गढ़ने में उसने भी सदियाँ लगाईं। पर अब तो वह मानव कम आदमी कम। आदिम कम, एक रिश्ता मात्र रह गया है, एक सोच, एक चिन्ता, एक सपना, एक घेरा बन गया है।

अरे हाँ! कहाँ उलझ गई यह चिड़ा-चिड़ी की या कहीं चिड़िया की कहानी! क्या-क्या कल्पनाएँ हो गईं! वास्तव में कल्पना मानव का स्वभाव है चिड़ियों का नहीं। उनके लिए तो सब गढ़ा रखा है।

अचानक एकाएक दोनों चिड़ा-चिड़ी कमरे के फर्श पर एक साथ कुछ सूँघते-से चलने लगे। कुछ दाने थे एक साथ चुगने लगे। यह पक्षी भी अजीब हैं। पर बीमार के पास बैठे नहीं देखा किसी को! बीमार पड़ने पर बाकी साथ छोड़कर उड़ जाते हैं, अकेले! और हाँ मरने पर भी चोंच से नहीं छूते चोंच केवल खाने-खिलाने, प्यार करने या देह धोने, पंख झाड़ने के काम आती है। मरने पर वह इर्द-गिर्द खूब मँडराते हैं। चूँ-चूँ-चच, चीं-चीं करके शोर जरूर करते हैं। कोव्वे तो कांव-कांव कर आसमान सिर पर उठा लेते हैं। पर चिड़ियों की बोली भी, शरीर भी सब छोटा है। आसमान नहीं गूँजता। उनके रोने-चहकने-शोर में कोई फर्क भी मालूम नहीं पड़ता।

बीमार चिड़िया की भी अजीब स्थिति होती है। वह घोंसले से निकल उड़ना चाहती है। अगर कमरे में हुई तो उड़ने पर कमरे की दीवारों से टकरा जाती है। पेड़ पर हुई तो टहनियों में अटक जाती है। वही हाल आज मेरे कमरे की चिड़िया का हो रहा है। वह उड़ी तो दीवारों से टकरा गई। थक कर रॉड पर जा बैठी। वह रॉड पर बैठी चिड़ियों के साथ उड़ना चाहती थी। चिड़ा उसी कतार के साथ उड़ जाता है फुर्र! भींगी-भींगी आँखों से चिड़िया पैरों को उफनाए, शरीर को फुलाए आकाश को जहाँ वह फुर्र से उड़ कर छिप जाती थी। जिसकी नीलाइयों में, गहराइयों के विस्तार में, खो जाती है और मुक्त हवा को पीती थी। बादलों को डैनों से गुदगुदाने का दम भरती थी।

कतार में सबसे आगे रहती थी वह। वर्षा में भींग कर परो को झाड़ना, झिटकना, चोंच से रगड़ना, शरीर फुला कर पूँछ हिलाते फुदकते चलना उसे कितना भाता था! रेंगने वाले कीड़े उसे कभी पसन्द नहीं आते थे! नजर पड़ते ही चोंच से ठोंग देती थी वह जो मुक्त आकाश में मुक्त उड़ती थी। पर आज नीला-नीला आकाश उससे दूर होता जा रहा है। हवा उसे बिना छुए सरके जा रही है, उसके पास से। उसकी सांस घुट रही है हवा के बिना। पंख फैलाना चाहती है, पंख फैल नहीं पाते। डैने अशक्त से झुक गए हैं, कुम्हला गए हैं उसके रोयें। सांस उखड़ गई है। आँखें मुंद रही हैं। उसे अन्डों से निकलते अपने बच्चों का चेहरा याद आ गया।

वह रॉड पर बैठी रह जाती है। घोंसले में अन्डे पड़े हैं। वह उड़कर घोंसले में आ जाती, जहाँ उसके सपनों के, आकांक्षाओं के, इच्छाओं के, यौवन प्यार स्नेह और विश्वासों के अन्डे बिखरे पड़े हैं। पता नहीं इन अन्डों को बच्चों का रूप देने की ऊर्जा, ऊष्मा, उसकी देह में बचेगी भी या नहीं। झुरझुरा उठती है उसकी देह यह सोच कर और इसी हलचल में एक अन्डा नीचे आ गिरता है। सहजेच्छा-शक्ति से, ममत्व की प्रेरणा से, अपने सम्पूर्ण आत्मबल को बटोर कर वह गिरे अन्डे के गिर्द घूमती है। किसी को छूने नहीं देती इस विश्वास में कि अभी-अभी उसमें से फुदकता एक प्राण चहचहाएगा! वह इस डर से उसे चोंच नहीं लगाती कि कहीं कु-जगह न छू जाए चोंच और कहीं उसका सपना दिन ही न देखे। वह कुम्हालाई-सी कमरे के कोने में जा चिपकती है।

चिड़े-चिड़िया, चिड़ी को छोड़ कर जा चुके हैं। चूँकि सबको अपना-अपना चुग्गा लाना है। अपना-अपना आकाश नापना है, हवा पीनी है, प्यार करना है बच्चे जनने हैं। चिड़े को चिड़ी और चिड़ी को चिड़ा चुनना है, और भरनी हैं अपनी-अपनी उड़ानें। फुदकना है अपनी-अपनी धरती पर, घोंसले बनाने, सजाने हैं। तिनके लाने हैं, चोंच से चोंच लड़ानी है, और अपनी-अपनी चहक चूं-चूं, चच-चच सुनानी है, गाना है। चहक खुशी की है या गमी की इसे हम नहीं पहचानते, शायद चिड़िया अपने पर विश्वास खोती-सी अशक्त गर्दन परों में घुसाए बैठी है।

रोंगटे खड़े हैं उसके। अँधेरा धिरता आ रहा है। अब वह इन्तजार कर रही है अन्त का जो अनन्त है। एक इन्सटिक्ट (Instinct) उसे बता जाता है, चहचहाना बन्द हो जाता है।

सवरे-सवरे देखा अगले दिन उसकी गर्दन लुढ़क चुकी थी। चिड़ा घोंसले में लौट आया था और उसके साथ में एक दूसरी चिड़िया उन अण्डों को उन्हीं अरमानों को अपनी गर्मी से ऊष्मा से सेने लगी थी। अगर वह मानव होती, आदमी होती तो शायद क्रम दूसरा होता। वह सोचने लगी अपने बेड पर लेटे-लेटे। पर चिड़िया तो अलग श्रेणी में है। जहाँ क्रम बँधा हुआ है। कौन छूट गया, कौन रह गया, क्या रहता, क्या नाता, इर्द-गिर्द क्या हो रहा है, इन सबसे अनजाने जीवन के संघर्ष में जूझते जीने की इच्छा पाले, चुग्गों की दिनचर्या में लीन, जीवन चक्र में बँधे चलते रहते हैं यह गगनबिहारी, धरती-चारी, नीर-निवासी नभ-चर, थल-चर, जल-चर।

वह अपने घेरे, अपने गिर्द खुद नहीं बाँधते और न ही उनमें बँधते हैं। उनके घेरे अगर हैं तो प्रकृति-निर्धारित हैं, पूर्व-निर्धारित, इन्सटिक्ट से चलित हैं। उन्हें मरने जन्मने का अहसास नहीं। शायद उन्हें इसकी पहचान भी नहीं। जीने की कोई शर्त भी नहीं होती। उड़ना, चुग्गा चुनना, फुदकना, चहचहाना, सीमित से काम, सीमित-सी जिन्दगी, सीमित-सी दिनचर्या, सीमित-सी जान, बस जिसके बिना भी दुनिया चलती रहेगी।

तो चिड़िया आदमी की परिभाषा में मर गई उस दिन। वह सोच रही थी क्या उसके सपनों के अण्डों को सेने का जिम्मा कोई और लेगा! उसे लगा वह चिड़िया की तरह अशक्त अवांछित हो गई है। चूंकि सबको अपनी दिनचर्या, अपना-अपना काम है। उसके पास अब उसके घेरे-दायरे भी न रहेंगे।

सबकी अपनी-अपनी दिनचर्या है, अपनी-अपनी भागदौड़, आकांक्षाएँ, सपने। उनके पास रहने का मतलब इन सब पर रोक। कौन रोकेंगा? क्यों रुकेगा कोई? रिश्ते पूर्व-निर्धारित नहीं मानव ने अपने से गढ़े हैं। इसलिए उन्हें तोड़ना या मानना मानव-इच्छा पर आधारित है। आज इस गति के युग में, मशीन के युग में हम सब रिश्ते तोड़ बैठे हैं। मशीन के पुरजे मात्र हैं। सापेक्षिक सत्य हैं। किसी सम्पूर्ण सत्य के टुकड़े नहीं। चिड़िया की तरह रिश्ते विहीन, दिनचर्या की कड़ी में एक चक्र, एक श्रृंखला चौबीस घंटे के चक्र में एक घन्टा, वर्ष में एक दिन सी, वही अनचाही-सी अपरिभाषित, अपने कमरे की छत में अपना आकाश सिमटता देख रही है। देख रही थी, महसूस रही थी, दीवारों पर जोकों की तरह सटे सपने। और वह अपने बैड पर चिड़िया की तरह निर्बाल, नकारित, आ गिरी थी। उसने एक बार खिड़की से बाहर आकाश को देखा जो सदा की तरह अपनी नीलाइयों में गहराया फैला था। पेड़ को देखा जो रोज की तरह बाँहें फैलाए पत्तों की जबान में फुसफुसा रहा था। हवा को सुना जो अपनी आँसू छोड़ती भागी जा रही थी। बादलों को देखा जो आकाश में तरह-तरह के स्वांग भर, रूप धर धरती के बच्चों का मन बहला रहे थे। यानि दुनिया एक-सी चल रही थी। कहीं कोई अन्तर नहीं। एक आँसू उसकी गालों पर लुढ़क गया। जो शायद चिड़िया की मौत के गम में कम, अपनी बेबसी पर अधिक रो रहा था!

आस्ति और नास्ति का भेद मिट गया उसके मन में। आँसू और मुस्कान दोनों एक हो गए, एक हो गए उड़ान-थकान, और गति-अगति!

इति

श्रवण कुमार

कभी-कभी मनहर का मन ऐसे ही उदास हो जाता है। क्यों उदास होता है मनहर का मन, वह अपने-आपसे पूछता है। सभी कुछ तो है उसके पास घर-बार, रुपया-पैसा, पद-प्रतिष्ठा। कितने लोग हैं इस देश में जो जहाँ तक भी पहुँच पाए हैं! लेकिन फिर भी उसके भीतर कहीं-न-कहीं फुरफुरी-सी होती ही रहती है। जैसे कुछ अनिष्ट होने जा रहा हो। क्या अनिष्ट हो सकता है अब उसके साथ?

मनहर के पीछे अब ये पचपन-छप्पन वर्ष पसरे पड़े हैं। इन पचपन-छप्पन वर्षों में उसने क्या कुछ नहीं देखा! संघर्ष, घोर संघर्ष। तिरस्कार, अपमान, अवहेलना। अभाव। गहरा अभाव। अब जाकर कहीं कुछ टिकता-सा नजर आता है। मकान मिला तो पूरी जद्दोजहद के बाद। पद मिला तो एक उम्र बिताकर। और प्रतिष्ठा? वह तो इस तरह धत्ता भी बता देती है। चलो, खुद आखिरी सीढ़ी तक नहीं पहुँच पाए, बच्चे तो पहुँचे! पर बच्चे भी तो अपनी राह खुद चलना चाहते हैं। वे अब सयाने हो गए हैं। उन्हें उंगली पकड़कर चलना अच्छा नहीं लगता। एक दिन छोटे बच्चे ने कह भी दिया था, 'पापाजी हमें हमेशा पढ़ने को कहते रहते हैं। खुद जो लुढ़क गए थे एक बार।'

कितना करारा वार किया था उस बच्चे ने उस पर। एक ही जुम्बिश में पिता को चित्त कर दिया था। पिता तिलमिला उठा था। उसका गला रुंध आया था। उसकी आँखों के सामने अपने उन दिनों की याद ताजा हो आई थी जब वह उतना लंबा रास्ता पैदल ही तय करके अपने कार्य-स्थल पर पहुँचता था और उसकी इतनी भी बिसात नहीं थी कि तीन पैसे खर्च करके बस या ट्राम से उस दूरी को पार कर ले। उधर कार्य-स्थल पर पहुँचना, इधर इम्तहान की तैयारी करना। आँखें धँस गई थीं उसकी भीतर। गाल भी चिपक गए थे।...क्या कभी वह इस निचाई से उबर सकेगा?

एक खस्ताहाल मकान में रहता था वह। मकान में और भी कई लोग थे। उसे उस मकान में एक कोठरी जैसा कमरा ही मिल पाया था। वहीं खाना, वहीं सोना।

बस, इतनी ही जगह थी जहाँ मुश्किल से बिस्तर बिछ सके। बिस्तर भी जमीन पर बिछता था और उसी से थोड़ा हटकर खाना बनता था। खाना भी अपने हाथ से बनाना पड़ता था। खटमलों को शायद रूखे खाने की खुशबू अच्छी लगती थी। वे रात को बत्ती बुझते ही कतार-कतार दौड़े चले आते थे और बिस्तर पर चारों ओर से चढ़ाई कर देते थे। खून ही कितना था मनहर के शरीर में तब! शायद इसी से वे उसे कम ही काटते थे। या यह भी हो सकता है कि मनहर की हड्डी उनके दाँत में गड़ जाती हो। कई खटमल तो सुबह मरे-मसले हुए मिलते थे। सुबह उठते ही मनहर का पहला काम उन्हें झाड़ू से बुहारना होता था। वह उन्हें बुहारता तो जरूर था, पर उसके दाँत भी किचकिचा उठते थे।

कितना मजबूर था मनहर उन दिनों! पढ़-लिखकर भी बेकारी के कगार पर था। चलो, बेटा बाप से तो अधिक पढ़-लिख गया। एक जिद थी बेटे के मन में कि वह बाप की तरह बाबूगिरी नहीं करेगा। बाप ने बहुत चाहा था कि बेटा टाइपिंग सीखे। शॉर्ट हैंड सीखे और उनके ही दफ्तर में कहीं लग जाए। ज्यादा पढ़ने की क्या जरूरत है! इंटर कर लिया है, काफी है। तरक्की करते-करते इंस्पेक्टरी मिल ही जाएगी। क्या बाप को बाद में इंस्पेक्टरी नहीं मिली? उन्होंने तो केवल मैट्रिक ही किया था। पर मनहर ज्यों-त्यों करके बी.ए. कर ही लेना चाहता था वह जमाना और था, यह जमाना और है। तब मैट्रिक पास की भी कद्र थी, अब बी.ए. पास को भी कौन पूछता है! लेकिन बी.ए. करने से कोई राह तो खुलती है। चाहो तो किसी प्रतियोगी परीक्षा में ही बैठ जाओ। प्रोफेशनल कैरियर के लिए भी तो बी.ए. पास होना जरूरी है।

मनहर किसी-न-किसी तरह एक सीढ़ी पिता से आगे बढ़ ही गया था। कहीं अध्यापन करके थोड़ा कमाता भी था, पढ़ता भी था। पिता ने सब कुछ किया था पहले उसके लिए, लेकिन बाद में जाने क्यों उन्हें उसकी हर हरकत नागवार गुजरती थी। उन्हें उसका ज्यादा पढ़ना तो एकदम बरदाश्त नहीं था, हालांकि वह खुद बड़ी दारुण स्थितियों में से गुजरे थे। उनके घर में तो कोई पढ़ा-लिखा था ही नहीं और फिर गरीबी भी इतनी कि उसके बारे में सोचकर उनका दम घुटता था। मनहर को कभी-कभी अपने पिता पर तरस भी आता। चलो, वहाँ से यहाँ तक तो पहुँचे। अब तो रेखा उसे ही बढ़ानी है। बढ़ेगी यह रेखा, जरूर बढ़ेगी। उसे अपने पर विश्वास था। पिता गरीब घर के थे तो क्या हुआ, बुद्धि के तो गरीब नहीं थे। उनकी बुद्धि तेज थी। माँ अनपढ़ होने के बावजूद हर विषय की व्याख्या भरपूर करती थी, बल्कि इस व्याख्या में तो पिता से भी बाजी मार ले जाती थी।

मनहर को कभी-कभी अपने में अपनी माँ और बाप, दोनों के गुण दिखते। माँ तीक्ष्ण, बाप थोड़े ठहराव वाले। माँ बाप को बढ़-चढ़कर बातें कह लेती। बाप

अकसर प्रतिकार करने में असमर्थ रहते। मनहर भी अपने से ज्यादा बढ़-चढ़कर बातें करने वालों का प्रतिकार करने में असमर्थ रहता। इस लिहाज से उसकी पत्नी उसकी माँ से बाजी मार ले गई। वह तो हाजिरजवाब की पुड़िया है। इधर सुनी उधर चटाक से उत्तर! अच्छे-खासों को भी गोता लगवा देती है। इसी से सब तरफ उसकी चलती है। यह सब जीवाणुओं का ही कमाल होगा! उठा-पटक में भी उसका मन खूब रमता है। इससे लिया, उसको दिया। वह बेचा, यह खरीदा। उधारी करने से भी उसे कोई गुरेज नहीं। उधारी के बल पर ही तो वह इतने बड़े-बड़े काम कर जाती है। बेटी की शादी करनी तो मंजूर कर ली, पर पल्ले दस कौड़ी न थीं। पर मौके पर जाने कहाँ-कहाँ से पैसा अपने आप बहकर आने लगा। हर रिश्तेदार मदद को तैयार। उधर मनहर था कि चुप। बल्कि सन्न-सा हुआ टेलीफोन के पास बैठा रहता। बहुधा उदास। पत्नी ठीक अपने पिता पर गई है। वह भी बहुत-उठा-पटक करते थे। कभी बिजनेस, तो कभी नौकरी। अपने साथ ज्यादाती होती दिखी तो सरकार पर मुकदमा ठोक दिया। सरकारी नौकरी क्यों छोड़े, चाहे छोटी ही हो। 'ठीक पढ़े-लिखे होते मेरे पिताजी, तो न जाने कहाँ पहुँच जाते।' एक बार पत्नी ने ऐसे ही बहाव में आकर कह दिया था।

अब कैसे कहें कि भाग्य नहीं होता! शादी के लिए रिश्ता तय हुआ तो मनहर झट से ढंग की नौकरी पा गया, जो उसे धीरे-धीरे आगे सरकाती रही। यह सवाल दीगर है कि उस समय के ढाई सौ आज के पाँच हजार के बराबर हैं। उस समय एक रुपए की सब्जी से थैला भरता था। घी चार रुपए किलो था। दूध पचास पैसे लीटर था। जब में दो-चार रुपए हों तब भी काम चलता था? पर अब? अब तो और-और के लिए ललक रहती है। चारों ओर लखपती ही लखपती तो हैं! कोई करोड़पती भी हो तो मुजायका नहीं। अच्छी से अच्छी कोठियाँ हैं। कोठियों में बढ़िया कालीन-गलीचे हैं। रोशनी के लिए झाड़-फानूस का भी कोई हिसाब नहीं। लकड़ी को तराश देकर क्या-क्या रूप नहीं दिए गए। सच आदमी कितना सयाना हो गया! सच, क्या वह अपने 'विकास' के चरम को नहीं छू रहा? क्या कभी देखा था पहले किसी ने इतना पैसा? जैसे पैसे का सैलाब आ गया हो। मुर्गा, शराब, पाँच तारा होटल, डिस्को स्टेप, ब्रेक स्टेप, कब्बाली की रात, गजलों की शाम, ब्यूटी पार्लर ए.सी.कार, ए.सी. सैलून अब क्या नहीं चलता पैसे के बल पर! बहुत कुछ तो मनहर की शब्दावली में अब तक भी दाखिल नहीं हो पाया। भला, एक नौकरीपेशा एक बिजनेस वाले से क्या मुकाबला कर सकता है! जो वह एक महीने में कमाता है, उतना वे एक दिन में कमाते हैं।...पर मनहर के बच्चों की शब्दावली एकदम अद्यतन है। उन्हें इन अमीरों के सामने किसी तरह की झंप नहीं होती। अमीरों के बच्चे भी मनहर के घर में कभी-कभी आ जाते हैं। साधारण-सा घर है मनहर का, लेकिन सब कुछ तरतीब लिए रहता है,

और इसलिए सुन्दर भी दिखता है। उधर उन बच्चों के कीमती घरों में सब कुछ कीमती रहने के बावजूद बहुधा असुन्दर ही दिखता है। ‘अरे, अब कैसे बताएँ कि यह सब पैसा कैसे आता है?’ एक बार मनहर की बेटी से उसकी एक सहेली ने कहा था। वह सहेली हमेशा खुद ही कार ड्राइव करके उनके यहाँ आती थी और उसकी बेटी को साथ लेकर कॉलेज जाती थी। ‘पापा पहले ओवरसियर तो थे? दस-पन्द्रह साल ही नौकरी की होगी। अच्छे पैसे हाथ लग गए। फिर नौकरी छोड़ यह कारखाना लगा लिया। साथ में अपने दो-तीन रिश्तेदारों को भी ले लिया। काम दिन-ब-दिन बढ़ता ही गया। रिश्तेदार दगा देने से बाज थोड़े ही आते हैं! हमारे सगे फूफा ने ही गोलमाल शुरू कर दिया। पापा इन मामलों में बहुत होशियार हैं। उन्होंने कहा, यह लो अपना हिस्सा और वह रहा तुम्हारा रास्ता! एक को रास्ता दिखाया तो दूसरों को अपने आप कान हो गए। अब इनकम टैक्स वाले हैं, सेल्स टैक्स वाले हैं, बिजली वाले हैं, पुलिस वाले हैं, लेबर वाले हैं, सब से रोज का वास्ता पड़ता है, और सबको खरीद रखा है पापा ने। सब का महीना बाँध रखा है। मजाल है कोई वर्कर जो थोड़ी सी चूँ-चूँ कर जाए। कान पकड़कर सीधे बाहर। एक बार यूनियन वालों ने शोर मचाया तो अच्छी धुनाई करवा दी पापा ने उनकी।...अरे पैसे से तुम क्या नहीं खरीद सकते! हमारे पास थोड़ा सरमाया है, उन्होंने और बड़े अहलकार खरीद रखे हैं और जिनके पास और भी ज्यादा सरमाया है, वे सरकार ही खरीद लेते हैं।

मनहर की बेटी की सहेली एकदम शीशे की तरह साफ है। उसपर कहीं कोई दाग नजर नहीं आता। जो मन में आया कह डालती है। बाप के काम को इतना बढ़िया समझती है कि बस...। इकलौती संतान है। ‘यह मत समझो, बिजनेस में ऐसे ही कमाई होती है’ एक बार उसने कहा था, ‘पूरी जान खपानी पड़ती है। बिजनेस वाले घरों में मर्द अपनी जान खपाते हैं, औरतें ऐश करती हैं।’

ऐश ही तो करती थी वह लड़की। खुद तो करती ही थी, मनहर की बेटी को भी करवाती थी। आज इस फाइव स्टार में, तो कल उस फाइव स्टार में। घर में भी ऐसे-ऐसे लवाजमात आते कि पूछो नहीं। माँ बेचारी वही सीधी-सीधी औरत। कहने को महंगी से महंगी साड़ी पहनती, लेकिन कहीं-न-कहीं झलक जरूर जाता कि अनाड़ी है। कोई काम न सूझता तो घर में पोंछे ही लगाने लगती। उस वक्त वह केवल पेटीकोट ही पहने होती। बेटी कहती, ‘माँ, पिताजी के स्टेटस का तो ख्याल करो’, और वह बड़ी सादगी से उत्तर देती, ‘पुत्ररा, अपना पहला वक्त कदी नहीं भुलना चाही दा’ और इसलिए वह घर की नौकरानियों को भी कभी-कभी अपने बराबर बैठाकर खिलाती। वह अक्सर अपनी बेटी से कहती, ‘जदों साड़डा ब्याह होया सी, ओदों तेरे पिताजी दे घर खान नू वी नहीं सी लवदा’ (जब हमारा ब्याह हुआ था तब तेरे पिताजी को खाने के भी लाले थे) सच, पापा इतने गरीब थे! बेटी कभी-कभी ताज्जुब करती।

पापा ने खुद भी एक बार उसे बताया था, 'बेटी ईश्वर तो हैं, यह तो मैं मानता हूँ लेकिन ईश्वर कैसा न्यायकारी है, यह मैं आज तक भी नहीं समझ पाया। जब तक हम ईमानदारी से चलते रहे, तब तक एक-एक पैसे को तरसना पड़ता रहा। और जब सोचा, ईश्वर जो करवाता है, वही करते हैं, भला भी और बुरा भी, तब से नक्शा ही कुछ और होता गया। पाकिस्तान बना, तब मेरी उम्र यही कोई सोलह-सत्रह साल की थी। मैं सब समझता था। दंगों में पिताजी को वहीं हमारी आँखों के सामने जिन्दा जला डाला। बचा मैं, मेरी माँ और छोटी बहनें। पता नहीं कैसे बच गए। शरीर में काफी जान थी उस वक्त मेरे। पिताजी का जलता शरीर आज भी मेरी आँखों के सामने फड़फड़ाता है। वह मेरे मरते दम तक फड़फड़ाता रहेगा। उस वक्त हम सबकी आँखों के आँसू सूख गए थे। अपनी जान कितनी प्यारी होती है हम सबको! बाद में माँ हर वक्त रोती रही। बिल्कुल खाली हाथ आए थे हम इधर। तन पर जो कपड़े थे, बस वही थे। बिल्कुल मैले-कुचैले। इधर लाकर हमें फिरोजपुर कैम्प में पटक दिया गया। कैम्प में आए अभी कुछ ही दिन हुए थे कि बाढ़ आ गई। चारों तरफ पानी ही पानी। ..देखा ईश्वर का न्याय! फिर माँ को हैजा हो गया और वह दो-चार दिन में पार हो गई। सोच सकती हो कैसा वक्त होगा वह हमारा?'

पिता कहे जा रहे थे और बेटी की आँखें बुरी तरह से नम हो गई थी, 'फिरोजपुर से हम किसी तरह दिल्ली पहुँचे। तुम्हारी बुआ मुझ से चार साल छोटी थीं। लूट-खसोट तो उन दिनों चल ही रही थी। अब कहाँ जाएँ हम? हर कोई अजनबी ही अजनबी। पर किसी पर आसानी से विश्वास भी तो नहीं किया जा सकता था। अब ईश्वर की करनी ही कहो कि पाकिस्तान से आया एक परिचित मिल गया। वह भी पूरी तरह लुटकर आया था। बिल्कुल अकेली जान बाल-बच्चे, घर-परिवार सब फना हो चुके थे। जाने उसके मन में कैसी हुमड़ आई कि उसने हमें अपना लिया। हमें भी लगा कि हमें अपना कोई सरपरस्त मिल गया है। अपने लिए उसने एक छोटा सा काम ढूँढ लिया और मेरे लिए भी ढूँढ दिया। साथ में मैंने पढ़ना भी शुरू कर दिया और करते-कराते ओवरसियरी के द्वार तक आ पहुँचा। ओवरसियरी का धन्धा कोई बुरा नहीं है। कोई बिजनेस न भी करें, तब भी चलता है। सब ठेकेदार तुम्हारे आगे-पीछे रहेंगे। तुम न भी लो, तब भी पहुँचाएँगे। अब आती माया को कौन मना करे। हाँ, यह जरूर है कि तुम आमदनी के मुताबिक दिखावा करोगे तो झट से गिरफ्त में आ जाओगे। इसलिए तुमने देखा होगा कि कई इंस्पेक्टर या ये ओवरसियर बड़े गरीब-से बनकर रहते हैं। और कोई अपने रिश्तेदारों के नाम या-इधर-उधर करके फैलने लगते हैं। देखा नहीं, पिछली बार जब हम अमृतसर गए थे। क्या ठाठदार कोठियाँ थीं इन ओवरसियरों की। क्या पोस्ट और क्या कोठियाँ! पर इन्हें पकड़े कौन? जो पकड़ने वाले हैं, वे खुद इन्हीं की तरह मालामाल हुए रहते हैं। बस पूछो

नहीं दुनिया का हिसाब-किताब। जो नहीं लेते, वे वैसे तंगी से परेशान, और जो लेते हैं...। यह अन्तःकरण नाम की चीज उन्हीं के लिए है जो इसे मानते हैं।...यह छटपटाहट तो दोनों तरफ से रहती ही है। इसलिए तंगी में घुट-घुटकर क्यों मरें।”

मनहर को ये सब बातें अच्छी तरह याद थीं। बल्कि एक तरह से उसके मन पर खुदी हुई थीं। उसकी बेटी ने ही उसे बताया था यह सब। बेटी की सहेली का नाम रूपाली था। बेटी की शादी हुई तो बाद में रूपाली की शादी भी हो गई जिस घर में रूपाली ब्याह कर गई, उनके ठाठ-बाठ और भी निराले थे। कहते थे सब जगह सोना ही सोना मढ़ा नजर आता था। हीरे-जवाहरात की भी कोई कमी न थी। पहले के राजा भी इनकी क्या ताव लाएँगे। अब पुराने राजाओं का जमाना लद गया। अब नए राजाओं की बात करो। अब तो पुराने राजाओं को अपने ठाठ बरकरार रखने के लिए नए राजाओं के हथकंडे अपनाने पड़ेंगे! पहले राजा गरीबों पर जोर-जुल्म करते थे, उनकी बस्तियाँ जलवा डालते थे, उनकी बहू-बेटियों को सरे-आम घसीट लेते थे। आज के राजाओं को यह सब करने की जरूरत नहीं। वे इम्पोर्ट-एक्सपोर्ट का सहारा लेते हैं। बस चलता है तो कुछ तस्करी से भी बचा लेते हैं। फिर ब्लैक की दुनिया उनकी अपनी है। उसमें चाहे जैसे भी गोते लगाते रहें। किसी सुंदरी पर तबीयत आ गई है तो उसके सामने कुछ चुग्गा फेंको, वह अपने आप बंधी चली आएगी।

मनहर समझता सब कुछ है पर कुछ कर नहीं पाया। बस, अपनी उसी बँधी-बँधाई तनखाह के सहारे चलता रहा है। ठीक है, लाखों न सही, हजारों तो आते ही हैं। देश के करोड़ों लोगों से बेहतर स्थिति में है वह! एक बार मनहर के मन में जाने क्या आया कि वह रूपाली के पिता से मिलने चल पड़ा। उनकी मुख्य फ़ैक्टरी नजदीक ही थी। मनहर ने भी कार खरीद ली थी। स्कूटर तो उसके पास पहले से था ही। वह रूपाली के बाप से मिलने अपनी फ़ियट में ही गया। उसे उसने पहले से फोन कर दिया था। मनहर का ख्याल था कि शायद वह उसे कहीं गेट के पास ही मिल जाएगा। पर जब वह वहाँ पहुँचा तो उसे गेट-कीपर ने रोका और सिक्यूरिटी में पास बनवा लेने को कहा। सिक्यूरिटी वालों ने उससे कई प्रश्न पूछे कि कहाँ से आए हैं, क्यों मिलना चाहते हैं। मनहर को यह सब अच्छा नहीं लगा। क्या रूपाली के पिता ने पहले से इन्हें आगाह नहीं किया था? गेट के भीतर दो मर्सीडीज कारें खड़ी थीं। मनहर को अपनी औकात का जैसे वहीं एहसास हो गया। पास लेकर वह आगे बढ़ा तो अब उसे रिसेप्शन पर रोक दिया गया और उससे दो-चार मिनट इंतजार करने के लिए कहा गया। मनहर को यह भी नागवार गुजरा। नाहक ही यहाँ आए, उसने अपने आपसे कहा। बेहतरी अब इसी में है कि यहाँ से लौट चलें! लेकिन इतने में रिसेप्शन पर बैठी लड़की ने उससे कहा कि वह भीतर जा सकता है और बाईं ओर दरवाजे की

तरफ इशारा कर दिया। दरवाजा खोलकर वह भीतर कमरे में घुसा तो उसे वह कमरा काफी सज्जित लगा। कमरे में उसी की उम्र का एक आदमी बड़ी-सी टेबुल के पीछे एक गद्देदार कुर्सी पर आसीन था। जाहिर था कि रूपाली का पिता वही था। पर रूपाली से वह एकदम भिन्न दिखा। जहाँ रूपाली के चेहरे पर सहज मासूमियत थी, उसके चेहरे पर जैसे थोड़ा रूखापन था।

खैर, मनहर को देखते ही वह एकदम अपनी कुर्सी से उठ खड़ा हुआ और बड़े तपाक से आगे बढ़कर उसने उससे हाथ मिलाया और फिर उसे पास ही रखे सोफे पर बैठाते हुए खुद भी उसके सामने बैठ गया। वह उसके सामने बैठा था तो मनहर को काफी अच्छा लग रहा था। फिर मनहर उसे एकटक देखता रहा। उस समय उसके मन में कई तरह के विचार आ रहे थे। क्या यह वही आदमी है जिसके जीवन की शुरुआत उस कद्र दोखी थी? खुद मनहर के जीवन के शुरुआत भी तो कम दोखजी नहीं थी। फिर जैसे वह और मनहर कुछ समय तक समानांतर पटरियों पर चलते रहे और आखिर अपनी-अपनी राह पर लग गए। लेकिन रूपाली के बाप ने अगर नौकरी न छोड़ी होती तो क्या वह उससे आगे निकल पाया होता? शायद नहीं। शायद कतई नहीं। ज्यादा-से-ज्यादा वह इस समय एक्सिसन के पद पर होता, जबकि मनहर पिछले दो वर्षों से महाप्रबन्धक के पद पर है। खैर, अभी बातों का सिलसिला शुरू हुआ चाहता ही था कि वर्दीधारी लड़का एस्प्रेसो कॉफी के दो प्याले और कुछ खाने का सामान उनके सामने रख गया। मनहर ने गौर किया। हर चीज उम्दा थी, बल्कि सलीके से थी। क्या सोफा और क्या गालीचे, क्या बेनिशियन पर्दे और क्या कॉकरी, और क्या दीवारों की पच्चीकारी। फैंक्टरी भी सेंद्रली एयरकंडीशंड। फिर उसने गौर किया कि कमरे में क्लोज सर्कट टी.वी.सैट भी है जिसके पर्दे पर फैंक्टरी तथा कार्यालय की हर हरकत उतरती रहती है।...न जाने क्यों, मनहर को थोड़ी देर बाद ही वहाँ कुछ अटपटा-सा लगने लगा। वह किसी खास उद्देश्य से तो यहाँ आया नहीं था, लेकिन वह बात को आगे भी नहीं बढ़ा पा रहा था। और क्योंकि रूपाली के पिता को भी उससे कुछ लेना-देना नहीं था, इसलिए उसकी जबान भी ज्यादा नहीं खुल पा रही थी। शायद मनहर के मन में एहसासे कमतरी उतर आया था। शायद उसके मन ने कहा हो काश, मैंने भी यही राह पकड़ी होती! खैर, वह वहाँ से चलने को हुआ तो रूपाली के पिता ने उसे रोका भी नहीं, और अपने कमरे के दरवाजे पर उससे हाथ मिलाकर उसे रूखसत दे दी।

मनहर घर पर लौट आया था। छुट्टी का दिन था, इसीलिए वहाँ चला गया था। उसकी बेटी कई बार कहती रही थी कि वह एक बार रूपाली के डैडी से जरूर मिल लें। क्यों? क्यों भला? तब उसकी बेटी की शादी नहीं हुई थी और न ही रूपाली की हुई थी। तब तो वह उससे मिला नहीं, फिर आज क्यों चल दिया उससे मिलने। शायद

मनहर के मन में रहा हो कि उससे कोई काम ही सध जाए! नौकरी से रिटायर होने में अब दो-ढाई साल ही तो बचे हैं। पर वह ऐसी कोई बात वहाँ छेड़ ही नहीं पाया था। बल्कि दोनों ओर से कुछ चुप्पी-सी ही बनी रही थी।

घर पहुँचकर मनहर उदास था। क्या एक प्रकार से यह उसकी अवहेलना नहीं है? पर ऐसी अवहेलनाएँ तो वह जिन्दगी में कई बार सह चुका है, हर मोड़ पर, हर चप्पे पर। क्या हुआ आज अगर वह इस पद पर है। उससे ऊपर और भी तो हैं! अगर वे आबरू उतारने पर तुल जाएँ तो उन्हें कौन रोक सकता है! एक दिन प्रबन्ध निदेशक ने कह भी तो दिया था तुम ठीक से केस भी पुट-अप नहीं कर सकते! कहने को महाप्रबन्धक हो। तब उसका चेहरा पिचक कर एकदम छोटा हो गया था। और एक बार तो एक ट्रैफिक कांस्टेबल ने उसे काफी झंझट में डाल दिया था और उसके यह कहने पर कि मैं एक सरकारी प्रतिष्ठान में ऊँचे ओहदे पर हूँ, उसने तड़ाक से फटकार दी थी ऊँचे ओहदे पर होंगे आप अपने दफ्तर में! यहाँ तो हमारा कानून चलेगा! वाकई, वह उस समय पशोपेश में पड़ गया था। क्या वह उसके डी.एस.पी. से बात करे? पर डी.एस.पी. ने भी ऐसे ही झपट दिया तो। बेशक कानून जो है सो है ही, असली कानूनदा तो ये छोटे अहलकार ही हैं जो हर कानून को अपनी तरह से सरंजाम देते हैं। क्या उसके अपने दफ्तर में उसके अधीनस्थ कर्मचारी अगर किसी काम में अड़ंगा लगाने पर उतारू हो जाएँ तो अपने मन की करवाए बिना रहते हैं? तब कैसा लाचार होता है वह उस समय। उसे याद है एक बार एक कचहरी में उसे एक चपरासी ने बिना रती-सा भी हिचके कहा था अरे, कागज पर कुछ वजन तो रखो, उड़ा जा रहा है। चपरासी को उस कागज पर मैजिस्ट्रेट की सिर्फ मोहर ही लगानी थी, और मैजिस्ट्रेट वहीं सामने बैठा था।

मनहर को यह अवहेलना और तिरस्कार और भी कई तरह सहना पड़ा। और तो और अपने को 'भगवान के बन्दे' कहने वालों के यहाँ उसे तिरस्कार की एक दूसरी बानगी मिली। उन दिनों वह 'भगवान के बन्दों की सभा' में अक्सर शामिल होता था। सभा के संस्थापक एक बुजुर्ग व्यक्ति थे। पचासी को छू रहे होंगे, पर काठी खासी मजबूत थी। चेहरे से जलाल भी खूब टपकता था। अपने को प्रायः वह भगवान का अवतार ही कहते। सभा में जो कोई भी आता, उनके पाँवों पर अपना माथा रख देता, और वह सहज ही उसे अपने आशीर्वाद से सराबोर कर देते। मनहर उन दिनों एक प्रकार से अनीश्वरवादी था। उसने जब लोगों को उनके पाँवों पर माथा रखते देखा तो उसे कुछ असमंजस-सा हुआ। वह तो केवल खड़े-खड़े ही अभिवादन करने का आदी था और उसने उनका भी उसी प्रकार अभिवादन किया। फिर एक दिन जाने किस रौ में आकर उसने भी उनके पाँव छू लिए और उन पर अपना माथा रख दिया। कुछ सुकून तो जरूर मिला उसे, लेकिन ऐसा भी नहीं कि वह किसी अभूतपूर्व अनुभव से

गुजर रहा हो। फिर वह धीरे-धीरे उनके पाँव छूने और उन पर माथा रखने का आदी हो गया। खूब रमता था। उसका मन उस सभा में। राम-रहीम, कृष्ण-करीम में वहाँ कोई अन्तर नहीं था। जुरथुष्ट्र और ईसा भी वहाँ उतने ही पूजनीय थे। वहाँ हिन्दू भी आते थे और अन्य भी। पुरुष भी आते थे और स्त्रियाँ भी। विदेशी अनुयायियों की संख्या भी अच्छी-खासी थी। सभी सम्पन्न थे। देशी अनुयायियों में भी अधिकतर संपन्न ही थे। वे अपनी कारों में आते और भेंट-स्वरूप बढ़िया से बढ़िया चीजें दे जाते। मनहर के पास वैसी संपन्नता तो थी नहीं, बल्कि अधिकतर तो वह नपा-तुला ही रहता था। इसलिए हर बार भेंट-स्वरूप कुछ ले जाने में वह अपने को असमर्थ ही पाता। इससे उसमें हीनता का भाव भी जागता और वह भीतर-ही-भीतर भीरुता-सी भी अनुभव करता रहता। तीज-त्यौहार के अवसर पर तो यह भेंट का सिलसिला और भी अधिक जमता और लोग बड़ी-से-बड़ी भेंट लेकर वहाँ पहुँचते। ऐसे ही एक अवसर पर मनहर वहाँ पहुँचा तो था, पर था बिल्कुल खाली हाथ। कहाँ एक-से-एक बड़े फलों के टोकरे और मिठाइयों के डिब्बे और कहाँ मनहर खाली हाथ! उधर एक विदेशी इलैक्ट्रॉनिक टाइपराइटर ले आया था। भीड़ उस दिन काफी थी। इसलिए अनुयाई लोग पंक्तिबद्ध एक-एक करके आगे बढ़ रहे थे। वे अपनी भेंट वहीं पास में रख देते और चरण-स्पर्श करके आशीर्वाद प्राप्त कर लेते। मनहर की बारी आई तो वह आगे तो बढ़ा, उसने चरण-स्पर्श भी किया लेकिन आशीर्वाद के लिए इन्तजार ही करता रह गया। यह क्या! क्या भगवान के बन्दों में भी भेद-भाव चलता है। क्या यहाँ भी पैसे का ही बोलबाला है?

मनहर उस दिन काफी व्यग्र रहा। घर में पैसे की कमी ने उसे पहले ही काफी व्यग्र कर रखा था। एक खर्चा पूरा किया नहीं कि दूसरा तैयार है। और फिर पैसे की कीमत भी क्या है! पहले तो उसे बेटी की शादी पर उठाए कर्ज को चुकाना है! माना कि तनखाह माकूल है, लेकिन माकूल तनखाह क्या हर मर्ज का इलाज है? उससे तो किसी तरह महीना ही पार हो पाता है। कर्ज उतारने के लिए तो कुछ ऊपर से भी आना चाहिए। लेकिन ऊपर से आए कहाँ से? क्यों नहीं नौकरी ही ऐसी की उसने? या किसी तरह का हथकंडा ही अपनाया होता! क्यों पैसे की संस्कृति से वह एक तरह बेगाना ही रहा? क्यों नहीं उसने कुछ लोगों की तरह पैसा ही सोचा और पैसा ही जिया? क्या ऐसे लोगों के लिए बाकी सब कुछ गौण हो जाता है? जैसे कि रूपाली के बाप के लिए। अगर कोशिश की होती उसने तो क्या वह भी पैसे वाला नहीं बन सकता था? तब शायद उसे यह तिरस्कार भी बार-बार न सहना पड़ता। तब शायद उसे 'भगवान के बन्दों की सभा' में स्थान भी एक प्रमुख सदस्य का मिलता और संस्थापक महोदय हर विशेष अवसर पर एक विशेष कुर्सी उसके लिए लगवाते या उसे भी अपनी बगल में ही मंच पर आसन देते।

इसी सभा में मनहर की जान-पहचान एक ऐसी महिला से हुई थी जो हर दृष्टि से उसे परिपूर्ण दिखी। स्वस्थ, सुन्दर, कद्दावर और स्थैर्य वाली। ओजस्विता उसकी हर भंगिमा से प्रतिभासित होती थी। मनहर को लगा जैसे कि वह जीवन के हर रहस्य को भेद गई है। वह वहाँ शान्त भाव से आती और शान्त भाव से चली जाती। प्रवचन के समय उसकी आँखें प्रायः बन्द ही रहतीं और खुलतीं तो अपने में एक विशेष प्रकार का प्रकाश लिए होतीं। मनहर की पत्नी, उन दिनों, जाने क्यों, उसे बात-बात पर फटकार देती रहती और वह फटकार साथ सोते समय भी अक्सर बनी रहती। इससे मनहर के अवयव प्रायः लस्त ही रहते और कोशिश के बावजूद उनमें तनाव न आ पाता। या कई बार ऐसा भी होता कि प्रताड़ना का बोझ वह तमाम दिन अपने साथ लिए-लिए घूमता रहता और रात को भी उसे वह अपने मन से उतार न पाता जिससे वह अपने को बेजान-सा महसूस करता। दो-चार बार तो उसे ऐसे भी लगा जैसे उसने अपना पौरुष खो दिया है जो अब कभी लौटेगा नहीं। कभी-कभी उसके सामने एक प्रश्न भी उठता क्या वह भी अपनी पत्नी को वैसी ही प्रताड़ना दे जैसी कि वह उसे देती है? या दूसरा तरीका उसके प्रति एकदम क्रूर हो जाना है। क्यों नहीं? क्या शारीरिक भूख का कोई महत्व नहीं? क्या शारीरिक संसर्ग के बिना स्त्री महीनों, वर्षों काट सकती है? सभा के संस्थापक तो हमेशा यही कहते रहे कि स्त्री-पुरुष को केवल संतान-उत्पत्ति के लिए ही संसर्ग करना चाहिए। और जब सन्तान-उत्पत्ति की इच्छा जगे भी तो पहले गुरु से मन्त्रणा लेनी चाहिए ताकि जो संतान पैदा हो, वह अपने में ईश्वर के सभी गुण लिए हुए हो। संस्थापक महोदय ऐसी संतान को 'गॉड-गाइडेड' संतान कहते थे।

ईश्वर! गॉड! कौन हो तुम भाई? जरा अपना स्वरूप तो दिखाओ। मनहर के एक मित्र ने कहा था कि वह तो कण-कण वासी है। उसने तब एक श्लोक भी दोहराया था जो यह अर्थ देता था कि जैसे दर्पण को महीन से महीन पीस देने पर भी उसमें दर्पण का गुण विद्यमान रहता है, इसी प्रकार ईश्वर भी महीन से महीन कण में अपना अस्तित्व बनाए रखता है। एक और का कहना था कि ईश्वर तो मात्र एहसास है। इसे मानों तो सब कुछ है, न मानों तो कुछ भी नहीं है। उसने इस एहसास की तुलना घंटे की खनक से की थी जिसकी अनुगूँज धीरे-धीरे दूर होते-होते गहरी भी होती जाती है लेकिन सबसे पहले ईश्वर के एहसास को पाया किसने? आदमी की लाचारी ने? उसकी निस्सहाय अवस्था ने? अपनी नियति के सामने कितना लाचार है यह आदमी! खूब हाथ-पांव पटक लेने पर भी कई बार वह रोता ही रहता है! और कई बार बिना अंगुली हिलाए ही सब कुछ अपने आप अनुकूल होता रहता है!

उस महिला से मनहर को कई विषयों पर बातचीत करने का मौका मिला

था। हालांकि वह आत्मिक बल पर बहुत जोर देती थी, लेकिन उसका यह भी कहना था कि आदमी का पहला कर्तव्य अपने आस-पास, अपने सम्पर्क में आने वालों में खुशी भरना है। आप अगर किसी को यह खुशी दे सकते हैं तो लोग जंगल में भी आपके पीछे लगेंगे, और अगर आप नफरत का जहर फैलाते हैं तो मुहल्लों में रहने पर भी आप से लोग दूर भागेंगे। एक दूसरे सन्दर्भ में उसने यह भी कहा था किसी भी काम को शुरू करते समय आपके भीतर दो तरह की आवाजें उठती हैं एक मद्धिम रहती है और दूसरी प्रबल। लेकिन मद्धिम आवाज ही सही आवाज होती है जिसे लोग आम तौर पर सुन नहीं पाते और प्रबल आवाज के पीछे-पीछे चल पड़ते हैं।

मनहर को इन दोनों उक्तियों में जैसे कि जीवन की सच्चाई दिखी थी। काश कि वह अपने चारों ओर खुशी बिखेर पाता। उसे लगा था जैसे कि वह अब तक एक संकुचित जिन्दगी जीता रहा है। किसी से मिलते समय उसके भीतर, जाने क्यों, कई तरह के भाव उभरते थे। कभी वह किसी से कन्नी काटना चाहता और कभी किसी को नीचा दिखाने की भी फिराक में होता। और कई बार ऐसा भी हुआ कि जब कभी उससे निचले स्तर का कोई व्यक्ति उससे मिलने आया, उसने उसे बैठने का संकेत तो जरूर दिया, लेकिन मन के भीतर उसे कहीं कुतरन-सी भी होती महसूस हुई। और तो और, परिस्थितिवश जब उसकी फुफेरी बहन एक बार अपने बच्चों सहित उसके यहाँ आ पहुँची थी तो कुछ अजीब तरह का भाव उसके चेहरे पर आता-जाता रहा था, जबकि इसके बरअक्स उसकी पत्नी बिल्कुल सहज रही थी। बल्कि उसने स्थिति को समझा था और उस औरत को हर तरह से ढाढस बँधाती थी। तब पत्नी से ही उसे पता चला था कि पति के चले जाने के बाद यह औरत हर तरह से अपने को लाचार पा रही है और बच्चों के रिश्तों के लिए मारी-मारी शहर-दर-शहर भटक रही है। तब एक दिन मनहर ने भी गौर किया था कि उसकी हालत वाकई गम्भीर है और वह बैठे-बैठे हिलती तो रहती ही है, अपने से बातें भी करती रहती है। खैर, उस समय तो मनहर भी काफी द्रवित हो गया था, लेकिन बाद में दूसरे मुद्दों को लेकर उसने पत्नी को टोका था।

उन सब बातों को याद करके मनहर को जाने कैसा-कैसा लगने लगा था। क्यों नहीं वह भी सहज रह पाया अपनी पत्नी की तरह? क्यों वह बात-बात पर उसे टोकता रहा? फुफेरी बहन से पत्नी का रिश्ता आखिर पति के कारण ही तो है। तब कैसे पत्नी ने उसे सहज ही स्वीकार लिया जबकि वह उससे एक प्रकार की दूरी ही बनाए रहा। क्यों? क्योंकि उनका परिवार गर्दिश में फंस गया है? क्या नहीं था उनके घर में भी एक वक्त? फ्रिज, रेडियो, मोटर साइकिल! लेकिन जब गर्दिश का चक्का घूमा, तो सब गायब हो गया। मनहर को याद है उनका फ्रिज बिक रहा था तो किस तरह उस

फुफेरी बहन की आँखों से आँसू टुलक रहे थे। बच्चे भी बिल्कुल छोटे थे। खुद घर के लोगों ने ही उन्हें घर से बेदखल कर दिया था। पति महोदय अपनी खुराफातों से बाज नहीं आते थे। अच्छी-खासी नौकरी थी। वहाँ जाने क्या गोलमाल हुआ कि नौकरी से हाथ धोने पड़ गए। घरवालों से तो पहले से उलझन थी ही। इसलिए वहाँ भी बेदखली तक की नौबत आ पहुँची।...कैसे होता है यह सब? मनहर हैरान था। कहीं तो आदमी उठता है तो उठता ही जाता है, और कहीं गिरता है तो उसे थाह नहीं मिलती! खुराफातें करने वाले तो वैसे और भी अनेक हैं। उधर हर तरह के घपले करेंगे और इधर देवी-देवताओं को मन्त मान लेंगे। क्या ये देवी-देवता इतनी आसानी से झाँसे में आ जाते हैं? क्या वे उनकी कारगुजारियाँ देख नहीं पाते? कहने वाले तो यह भी कहते हैं कि हम अपनी किस्मत की डोरी खुद ही बुनते हैं, अपनी सोच से, अपने कर्मों से, अपनी इच्छा-शक्ति से। तब फुफेरी बहन के पति ने अपनी किस्मत की डोरी क्या खुद ही तैयार नहीं की? और तो और, उस तंगदस्ती में उसकी नीयत को भी शक की निगाहों से देखा जाने लगा और होते-होते नौबत यहाँ तक पहुँची कि लोग उसकी शकल से भी परहेज करने लगे। फिर सुनने में आया कि वह हर मिलने वाली औरत पर डोरे डालने के फिराक में रहता है और अपनी हविस की रौ में उसने अपने सगे-सम्बन्धियों को भी नहीं बख्शा। फिर सुनने में यह भी आया कि उसने यह शहर छोड़ दिया है और राजस्थान के किसी दूसरे शहर में बस गया है। फिर सुनने में आया कि अब उसका काम ठीक चल निकला है और उसके बेटे भी उसका हाथ बंटाने लगे हैं। फिर सुनने में आया कि वह काफी खुशहाल है और अच्छी-खासी जायदाद का मालिक बन गया है। और फिर सुनने में आया कि वह तो इस दुनिया से कूच कर गया है, पर उसके बेटे घर की अच्छी सार-सँभाल कर रहे हैं। जैसे कि सब कुछ सिलसिलेवार चल रहा हो। दरअसल, यह सिलसिला ही तो है जो मनहर को परेशान किए रहता है। कहीं आपने जरा भी कुछ बेहद झटकने की कोशिश की तो आपको उसका सिला फौरन मिल जाता है, और कहीं लोग सब कुछ हड़पते जाते हैं और उन्हें कहीं चुभन तक नहीं होती!

हाँ, एक वक्त वह भी था जब ईश्वर को मनहर ने बालाए ताक रख दिया था और देवी-देवताओं की ओर तो वह आँख उठाकर भी नहीं देखता था। तब उसकी पत्नी जब मंदिर जाती तो वह बाहर खड़ा-खड़ा ही उसका इंतजार करता रहता। शनि-मंगल को मनाना भी उसे एक बेकार की हरकत लगती। कितनी कर्म-कांडी है यह पत्नी मेरी, वह अक्सर सोचता। लेकिन फिर जाने क्या हुआ कि उसे हर कहीं ईश्वर का चमत्कार ही दिखने लगा। आदमी की अंग-रचना। औरत की अंग-रचना। उनका एक-दूसरे में समा जाना। मन। उसकी उड़ान। आँख झपकते ही कहीं से कहीं पहुँच जाना। मन का उद्वेलन। उद्गार। नफरत। प्यार। रोना। हँसना। पीड़ा।

उल्लास। कुछ पा लेने की ललक। आगे बढ़ते रहने की लालसा। सृष्टि का क्रम। ऊर्जा। वीर्य। रज। कोई तो है जो इस सबका संचालन करता है। कोई तो है जो नियंता-नियामक की भूमिका निभाता है। नहीं तो सब एक-दूसरे से टकरा न जाएँ। और जब टकराते हैं तो कैसा विनाश होता है। विनाश के वैसे और भी तो कई रूप हैं! भूकंप। बाढ़। गाज।

उन्हीं दिनों मनहर 'भगवान के बन्दों की सभा' के एक सदस्य के संपर्क में आया था और उसी ने उसे सभी की तरह बताया था जहाँ वह ईश्वरी सत्ता का बराबर कायत होता रहा, हालाँकि 'सभा' के संस्थापक से उसे एक प्रकार का धक्का ही मिला और उनसे वह धीरे-धीरे विमुख ही होता गया। पर वह महिला? उसने भी वहाँ आना एकाएक बन्द कर दिया था और फिर पता चला कि वह विदेश चली गई है।

मनहर को कुछ बातें सोचकर अभी भी अपने पर हँसी आती है। कैसे वह धीरे-धीरे स्वयं भी कर्म-कांड की ओर खिसकता चला गया? मंगल और शनि के दिन जैसे कि उसके जहन पर नक्श हो गए थे। हर मंगल के दिन वह प्रसाद की थैली के साथ मंदिर में पहुँचता और उसे हनुमान जी को अर्पित करने के लिए पुजारी के हवाले कर देता। इसी प्रकार हर शनिवार को जैसे ही वह 'शनि को मनावे' की गुहार सुनता, वैसे ही छाया-पात्र में चवन्नी या अठन्नी डालने के लिए तैयार हो जाता। एक बार एक ज्योतिषी ने उसे कार्य-सिद्धि के लिए एक टोटका भी बताया था और विधिवत उसे पूरा किया था। टोटका क्या था, बस पुराने जूते को पुराने कपड़े में लपेटकर एक चौराहे पर इस तरह पटकना था कि कोई उसे देख न पाए, और न ही वह स्वयं मुड़कर उसे देखे। उसने पुराने कपड़े में लिपटे पुराने जूते की पोटली चौराहे पर फेंक तो दी थी, लेकिन उसे बराबर यही डर लग रहा कि यदि किसी ने देख लिया तो क्या कहेगा! नहीं, किसी ने उसे नहीं देखा था और ताज्जुब, कि उसका रुका हुआ काम पूरा भी हो गया था! कैसे पूरा हुआ वह काम? क्या महज यह एक इत्तफाक था? क्या हमारे नक्षत्र हमें इस तरह से प्रभावित करते हैं? क्या ज्योतिष एक संपूर्ण विद्या है? उस ज्योतिषी ने उसे और भी कई बातें बताई थीं जैसे स्वर (नाक की सांस) को अपने अनुकूल बनाना और त्राटक दृष्टि का विकास करना!

त्राटक दृष्टि। यानी किसी को भी अपने निक्षेप से अपने वश में कर लेना। क्या आदमी के भीतर ऐसी अपार शक्ति है? कैसे विकसित होती है यह शक्ति? कैसे आदमी धीरे-धीरे ऊर्ध्वगामी होता जाता है? कैसे आदमी एक के बाद एक ऊँचाई पार करता जाता है? तब यह अपवाद और अवहेलना उसके लिए गौण नहीं हो जाते? मनहर को लगा जैसे अवहेलना का यह भाव उसके अपने ही भीतर छिपा हुआ है जो समय-समय पर उस पर हावी होता रहता है। तब क्यों नहीं उसने उसे बाहर निकाल फेंका? तब क्यों नहीं उसने अपने आपको पुष्ट किया? तब क्यों नहीं

उसने प्यार की जगमगाहट चाही? वह महिला ठीक ही तो कहती थी अपने को ऐसे बिन्दु पर ले जाओ जहाँ से फिर कोई तुम्हें गिरा न सके। 'सीक परफेक्शन', वह बार-बार कहती, 'द रेस्ट विल फॉलो!' मनहर की आँखों के सामने उस महिला का चेहरा अब भी बार-बार दमदमा उठता है। 'कहाँ हो, भाई!' वह जैसे उसे गुहार लगाता रहता है।

और उस महिला ने यह भी तो कहा था, 'केंद्रित मन एक ऐसा चिराग है जो हमारी आत्मा के हर कोने को उजागर करता है। तब करो न अपनी आत्मा के हर कोने को उजागर, मनहर!'

औरत आखिर औरत होती है

नमिता सिंह

चौक के दाहिनी ओर की सड़क पर जब रिक्शा मुड़ा तो मोड़ वाली मस्जिद में अजान हो रही थी। कितना पुराना परिचित स्वर। वह भूल नहीं कर सकती हुसैन मियाँ का स्वर...जो अब प्रौढ़ हो चला था लेकिन स्वर और लय...दिलकश आवाज ...सच ईश्वर की बन्दगी बेसुरे सुरों से नहीं हो सकती...सुर और ईश्वर...शायद एक ही होते हैं। यही सुर जब बिगड़ जाता है बेसुरा हो जाता है तो शैतान बन जाता है।

चौक पुराना मुहल्ला जहाँ उसके बचपन ने आँखें खोली थीं...पय्याँ-पय्याँ पैरों से ठुमकना-चलना सीखा था...खुली हवा के साथ दोस्ती की थी। सोचते हुए उसके सामने एक बागीचा...विस्तृत हो फैल जाता है। रंग-बिरंगे फूलों से भरा...उड़ती तितलियों के पीछे भागता...किलकता...गूँजता।

उसका मन किया कि रिक्शा रुकवाकर वहाँ जाए हुसैन मियाँ के हालचाल पूछे। हुसैन मियाँ से पहले तब बड़े मौलवी साहब हुआ करते थे...उनकी अजान... इतनी कानफोड़ और तीखी...तौबा-तौबा। जब कभी बड़े मियाँ मिल जाते तो वह हिदायत देती...कि आइन्दा वह तकलीफ न करें वर्ना और कोई नहीं लेकिन वह जरूर बहरी हो जाएगी।

उसकी बात का बड़े मौलवी साहब बुरा न मानते हँसते रहते थे और वह कूदती-फांदती हवा के झोंकों की तरह निकल भागती। तब माहौल में सवेरे की ओस की शीतलता और भीगी मिट्टी की महक हुआ करती थी। आज की तरह हर समय उबलते खौलते लावा की भभक और जलांध नहीं होती थी। इसीलिए तो कोई बुरा नहीं मानता था उसकी बात का।

सुरीलेपन की तो हमेशा दीवानी रही है देवयानी। 'क्यों देवी, इसीलिए तो संगीत सीखती है न तू...साहित्य संगीत कला विहीना...' ददूदा उसे छेड़ा करते।

यह मंत्रबिद्ध सर्पिल सुर ही तो था रोहन का कि वह सम्मोहित-सी चलती चली गई उसके पीछे।

रोहन...उभरता नया कलाकार...ऊँचाइयों की ओर निरन्तर बढ़ता...उदीयमान

संगीतज्ञ। कला जगत में सफलता की दहलीज पर खड़ा नौजवान कलाकार। रोहन का ख्याल मानो पर्दे के पीछे अंधेरे से भूले हुए क्षण अचानक दौड़कर सामने आ गए और फैल गए एक विशाल मंच की तरह उसके जेहन में। फिर तो पूरा तामझाम साकार हो उठा। सुसज्जित स्टेज...लाइट्स...खचाखच भरा हॉल...तड़-तड़-तड़-तड़ तालियाँ... वातावरण में गूँजते स्वर...नेपथ्य से उभरता पार्श्व संगीत...भोर की भैरवी की तरह।

तभी अचानक क्षणांश को अंधेरा...घोर अंधेरा...आँखों के आगे काला समुद्र... और दृश्यांतर। मंच बदल गया...मंच सज्जा बदल गई। और अब अंक दो। सीन सीन कौन-सा? पता नहीं आठवां? दसवां? बहरहाल क्या फर्क पड़ता है। इस सीन में रोहन और दद्दा आमने-सामने। रोहन की वेशभूषा में भी परिवर्तन। सफेद बुर्राक पाजामे और सिल्क के कुर्ते की जगह तहमद और बनियान। मुखमुद्रा शान्त की जगह क्रोध भाव का संचार। रौद्र रस। संवाद अस्पष्ट।

...इसी समय एक ओर से देवयानी का प्रवेश। उसे देखते ही रोहन के संवाद तीव्र हो गए थे। दद्दा? यहाँ कैसे? वह घबड़ा उठी। किसी अशुभ आगत की आशंका से उसके दिल की धड़कन तेज से तेज होती गई। सारे संवाद कपूर की गंध की तरह उसके चारों ओर उड़ रहे थे लेकिन उसकी चेतना में कुछ भी शेष न रहा था। 'तमीज से बात करो रोहन देवयानी तुम्हारी बीबी है...यह गाली-गलौज...छिः कैसी नीच जवान है तुम्हारी...मुझे तुमसे...'

आओ देवी! मैं तुम्हारे ही बारे में रोहन से बात कर रहा था।

ये हरामजादी, कृतिया...देवी को लगा था कि मानों कोई बहुत सुमधुर स्वर लहरी बिखरेता रिकार्ड बीच में ही रुक गया है और भोंथरी आवाज में धिर्-धिरर धिर्-धिरर करता घिसट रहा है। घिसटना जारी था शिकायत की है इसने आपसे? देवी को अपना संवाद मालूम था। लेकिन पहली बार स्टेज पर उतरने वाले कलाकार की तरह वह अपना संवाद भूल रही थी...दर्शकों की ओर देख...भय से उसकी बोलती बन्द थी दूसरी ओर से संवाद जारी था...

किससे बात करनी है? मुझसे या इससे? नर्क बना दिया है इसने घर को..घरेलू औरत का स्वरूप...कहाँ गई उनकी वह देदीप्यमान देवयानी...दद्दा की आँखें खोज रही थीं।

देवयानी रोहन को देख रही थी। विस्फारित नेत्रों से...उसका धीरोदात्त नायक उन नाटकों की तरह था जहाँ नायक खलनायक बन जाता है

और तभी उसे लगा था कि उसके खुले लम्बे बाल किन्हीं और हाथों में हैं, उसे लगा उसके सर में चिंगारियाँ तड़क रही हैं और उसके मुँह से उस दृश्य के दौरान पहली बार कोई बोल फूटा था, नहीं बोल नहीं, वह शायद चीखी थी...

देवयानी ने उठकर भरपूर जोर लगाकर पूरा दृश्य पीछे बैक ग्राउन्ड में धकेल

दिया। हर नाटक दुबारा खेलने के लिए नहीं होता।

कितनी चहल-पहल...उसने अपने चारों ओर अब तक गौर नहीं किया था। रंग-बिरंगी झंडियाँ, बन्दनवार, लाउड स्पीकर जोर-जोर से फिल्मी तर्ज पर मैया की आरती चीख रहा था। मंदागिन चौराहा आ गया था।

चौराहे से थोड़ा आगे दस-बारह गज के फासले पर दो ऊँचे लकड़ी के तख्तनुमा स्टेज थे...‘रामलीला चल रही होगी आजकल’ उसको ध्यान आया बनारस उसे इसीलिए बहुत अच्छा लगता है। यूँ तो हर मौसम यहाँ बहार का, चहल-पहल का मौसम है लेकिन दशहरे पर तो मानों पूरा शहर उत्सवमय हो जाता है। अयोध्या नगरी उठ कर यहीं चली आती है। इतनी रंगीनी-जीवन्तता...पूरे शहर का त्योहार होता है यह! गंगा तट की दौड़ती मचलती लहरें घाटों के कोलाहल को लांगती फलांगती मानों पूरे शहर को अपनी लपेट में ले घेरती हैं। हवा में गमकती धूप और अगरबत्तियों की सुगंधि शिखाएँ मानो लहराती सड़कों में हिलोरें लेती मचलती हैं।

सामने हरिशचन्द्र पार्क...रिक्शा भीड़ के बीच से रास्ता बनाता सरक रहा था। भीड़ आ रही है। भीड़ जा रही है। चेहरे आ रहे हैं चेहरे जा रहे हैं सामने आते-पीछे छिपते। अनवरत लहरों का आवागमन। चेहरे-चेहरे सब एक जैसे। ज्यादा से ज्यादा फर्क कर सकते हैं बच्चे और बूढ़े में...जवान और अघेड़ में, लड़के और लड़की में मुक्त हँसी-हँसते-खिलखिलाते और तनाव भरे चेहरे में...इससे ज्यादा भीड़ में और कोई पहचान नहीं होती।

देवयानी कभी भीड़ का हिस्सा नहीं बनी। महानवरात्रि के अवसर पर प्राण प्रतिष्ठित महिषासुर मर्दिनी की प्रतिमा के आगे दंडवत करती भीड़ जैसी लहरों का एक नामालूम-सा कतरा बनना, जिसका कोई चेहरा ही न हो उसके लिए हमेशा से मृत्यु का पर्याय रहा है। बिना किसी पहचान के भीड़ में गुम हो जाना...और मौत क्या होती है?

यूँ रोहन ने कुछ खास नहीं किया। वह उसके चेहरे को घिस कर उसे सपाट किए दे रहा था उसे भीड़ का एक ऐसा ही अनजाना नामालूम-सा चेहरा बना रहा था जैसा लाखों-करोड़ों औरतों का होता है। वह उसे, देवयानी से सिर्फ एक औरत में बदलना चाह रहा था। एक औरत...जो सबेरे उठती है सास-ससुर के पैर छूकर दिन शुरू करती है...माथे पर चवन्नी भर का टीका लगा माँग में सिन्दूर भर पूजा करती है...चाय बनाती है...खाना पकाती है...सफाई करती है। दूधवाले का, धोबी का हिसाब रखती है...मेहमानों की आवभगत करती है पति के सामने सज-सँवरकर रहती है उसकी इच्छानुसार उसे खुश रखती है उसके सामने मुस्कराती है...जी हाँ! मुस्कराना भी उसका फर्ज है। अगर वह नहीं मुस्कराती तो पति समझता है कि वह यहाँ, मेरे साथ दुखी है और तब, वह उसके होंठों को नोचता है खींचकर लम्बा करता

है...उसे हँसने का हुक्म देता है।

देवयानी ने हल्के से उंगली फिराई होंठों पर।

सड़क पर उमड़ती भीड़...रिक्शा अभी भी बेइन्तिहा धीमा...रेंगता हुआ...उसके अपने भीतर रेंगते हुए एक बीते अहसास की तरह।

दूर सामने...रंगबिरंगी चादरों के चंदोबे से ढका-सजा मंच...अष्टभुजाधारी...खड़गधारी देवी की प्रतिमा की झलक कौंधी थी उसके सामने। बाहर लगे लाउडस्पीकर पर पुजारी का लयबद्ध स्वर...या देवी सर्वभूतेषु...नमस्तस्ये...नमस्तस्ये...नमस्तस्ये...नमो नमः...नमो नमः...

देवयानी को बहुत दिनों बाद ऐसा लगा मानों पुष्पांजलि उसी को अर्पित की गई है...एक रेला...लहरों के पीछे आती लहरों का...उसे तेजी से बहा ले गया बहुत पीछे...कच्ची पगडंडियाँ...सवेरे की ओस से महक रही मिट्टी...फूलों पर उड़ती तितलियों के पीछे भागती...ऊँची फूलदार फ्राक पहने देवयानी...धुंधले पर्दे के पार उसे कुछ-कुछ नजर आ रहा था...

ऐसी ही भीड़-भाड़ थी। भागमभाग ढेर सारे मेहमान-सजावट-बैंडबाज-दावत बड़ी जीजी खूब सजी-धजी जेवर-रेशमी साड़ी और बीच-बीच में रोती आँसू पोंछती। वह परेशान हो गई थी। 'जीजी इतने अच्छे कपड़े, इतना अच्छा हार सोने का चूड़ियाँ...इत्ते सारे रूपए दिए जीजी को लोगों ने फिर जीजी क्यों रो रही है क्या हुआ जीजी को...'

तब किसी ने उसे बताया था कि कल जो आदमी दुल्हा बनकर घोड़े पर बैठकर आया था, वह जीजी को अपने साथ ले जा रहा है...इसीलिए जीजी रो रही है...और फिर उसने भी धाड़-धाड़ रोना शुरू कर दिया था... 'जीजी नहीं जाएगी कहीं नहीं जाएगी...जीजी वहीं रहेगी उसी के साथ...'

शायद ऐसे ही रोते में किसी शोख ने उसे दुल्हा जी के सामने खड़ा कर दिया था

'लीजिए सँभालिए जीजा जी इसे। आपकी असल साली तो यही छुटकी है। हम तो लग्गू-पग्गू है...'

'अरे वाह! आप आइए?' और कौतुक से दूल्हे महाराज ने उसकी ठोड़ी ऊपर उठाई। 'ये तो बहुत प्यारी बच्ची है। ये हमारी साली नहीं हो सकती। साली का दर्जा तो आपके लिए ही सुरक्षित है...' उस शोख को जवाब दिया था उन्होंने।

'हाँ! अब तुम बताओ बिटिया रानी! क्या नाम है तुम्हारा...?'

'नाम बता देबू अपना...रोते नहीं...जल्दी से नाम बता। देवयानी नाम है इसका जीजा जी याद कर लीजिए...' वही चंचल स्वर था।

'देवयानी...अरे वाह! हम तो इसे देवी कहेंगे देवी क्या देबू-देबू इसका नाम

बिगाड़ रखा है। हाँ तो देवी, नमस्कार...तुम्हें नमस्कार देवी...या देवी सर्वभूतेषु नमस्तस्ये...नमस्तस्ये...हत्तरे की...कैसी देवी है यह भई रोती ही जा रही है चुप नहीं होती...' और हँसते हुए पाँच-छः साल की देवी को उन्होंने गोद में उठा लिया था।

उस दिन उनका दिया हुआ नाम उसके अस्तित्व का, उसकी चेतना का एक जरूरी हिस्सा बन गया। या उन्होंने ही बना दिया...उसका व्यक्तित्व अपने हाथों से संवारा था उन्होंने।

विदाई के वक्त उसे चुप कराते हुए कहा था उन्होंने 'अरी देवी! रोती क्यों है? जीजी के साथ रहेगी न! चल, तू भी चल हमारे साथ...'

और फिर संयोग! दो साल बाद पिताजी का ट्रांसफर छोटी जगह जीजी का और उनका आग्रह। एक-दो नहीं, पूरे दस साल रही वह उन लोगों के साथ। उनका पितृवत व्यवहार। कभी जीजा नहीं समझा उन्हें। जीजी की बेटी अनु तो बहुत बड़ी होने तक उसे अपनी बड़ी बहन ही समझती रही। जीजी के लाड़ले देवर कुणाल की देखा-देखी उसने भी उन्हें दद्दा ही कहा। इतनी बड़ी हो गई है लेकिन आज भी वह दद्दा ही हैं उसके और वह उनकी वही छोटी सी देवयानी...देवी...

दद्दा का घर उसके जीवन की कार्यशाला। मानो ट्रेनिंग सेंटर हो। दद्दा ट्रेड यूनियनों से सक्रिय रूप से जुड़े हुए। पेशे से वकील लेकिन रोज किसी न किसी आन्दोलन की अगुवाई...हड़ताल...भाषण...मालिकों से बातचीत। कुणाल छात्रों का नेता रोज कोई न कोई हंगामा। वह बेचारी चुप रहकर क्या लेती। जो वह देखती-सुनती--अपने स्कूल और फिर कॉलेज में कर गुजरती। और कुछ नहीं तो एक धाकड़ छात्रा और निर्भीक वक्ता के रूप में तो उसकी धाक जम ही गई थी। तिस पर हर वक्त ये उपदेश... 'गलत बात को सहना भी कायरता है...अन्याय का प्रतिकार न करना...अन्यायी का छिपे तौर से साथ देने के जैसा ही है...सही बात कहने में डर कैसा...'

और...एक दिन पता चला कि शहर के एकमात्र कन्या महाविद्यालय में हड़ताल हो गई है। लड़कियों ने कक्षाओं में जाने से इन्कार कर दिया था...पहले लाइब्रेरी नाम के कबाड़खाने को ढंग से लाइब्रेरी बनाओ। साइंस की प्रयोगशालाओं को व्यवस्थित करो...पूरा सामान लाओ। साइंस की ग्रांट का हिसाब दो...किताबों की खरीद का हिसाब दो...सवाल दर सवाल...हर सवाल का जवाब चाहिए...हिसाब चाहिए...पहली बार हिम्मत करके कॉलेज की चारदीवारी से निकली लड़कियाँ सड़कों पर निकल आईं। कदम बढ़ाती वे चल पड़ीं और पहुँच गईं जिलाधीश की कोठी पर।

कन्या महाविद्यालय के इतिहास में ही नहीं नगर की अभूतपूर्व घटना थी वह। देवी चौधरी...देवयानी चौधरी का नाम गुँज रहा था। बहरहाल और सब कुछ तो हुआ साइंस लैब के लिए उपकरण आ गए। कॉलेज ग्रांट से लाइब्रेरी का सही हिस्सा

भी किताबों और फर्नीचर के लिए मिला, लेकिन अनुशासनहीनता के आरोप में, इम्तिहान खत्म होने के बाद, देवी को आगे दाखिला नहीं दिया गया।

अब क्या करेगी देवयानी? लेकिन फिर बादलों को चीरता हुआ सूर्य किरण जैसा दद्दा का मस्त ठहाका और उसकी पीठ पर जोर की धम्। 'कोई फिक्र नहीं देवी! तू ऐसा कर प्राइवेट इम्तिहान दे। अरे यह तो संघर्ष का हिस्सा है...ऐसा तो होता ही रहता है।'

लेकिन...प्राइवेट इम्तिहान? अन्त में तय हुआ कि वह अम्मा-बाबूजी के पास चली जाय। बाबूजी रिटायर होकर बनारस आ गए थे।

दद्दा और जीजी का साथ छोड़ना...सचमुच बहुत अखरा था। मजबूरी थी सो लम्बे प्रवास के बाद फिर बनारस आ गई। उसे मालूम था कि जीजी और दद्दा के अलावा एक जोड़ी आँखें और उस घर में उसकी मुन्तजिर थीं...उन्हें भी उसका जाना बेहद खला था। उसे इस ख्याल से गुदगुदाहट-सी महसूस हुई थी। अच्छा लगा था उसे यह ख्याल। सुबह की हवा के ठंडे झोंके की तरह...उसका मन ओस में भीग-भीग गया था।

वापिस बनारस। बड़ा शहर बड़े लोग भीड़ चहल-पहल लेकिन उसे लगा उसका कुछ बहुत कीमती, संजोया-संवारा छूट रहा है। फिसल रहा है। घर के नियम-बन्धन। उसके हाथ-पैर बाँधे दे रहे थे। 'कॉलेज से सीधे घर...कोई जरूरत नहीं ड्रामों में पार्ट लेने की...दो साल बाद शादी करनी है तुम्हारी...किस-किसको जवाब देते फिरेंगे हम...'

लेकिन देवयानी...अम्माँ की और बाबूजी की, छुटकी अब कहाँ थी? उसका तो कायान्तरण हो चुका था। दद्दा का उसे उकसाना 'अरे देवी...तेरे कॉलेज में इलेक्शन और तू हाथ पे हाथ धरे बैठी है। सुधा यह मरबिल्लो बिल्ली कहाँ से आ गई हमारे घर में...

और पता चला कि दूसरे ही दिन देवयानी चौधरी ने छात्रा यूनियन की सेक्रेटरी के लिए अपने नाम का परचा दाखिल कर दिया है। अब रातों में कुणाल बैठ उसके लिए पोस्टर बना रहे हैं और दद्दा उन्हें स्पीच की घुट्टी पिला रहे हैं।

हफ्ते भर बाद फिर एक चहल-पहल। उसकी दोस्तें...कुणाल और उसके दोस्त...जीजी...दद्दा...सब व्यस्त। खाना-पीना। हँसी, मजाक, ठहाके। 'हमारी देवी स्टूडेंट यूनियन की सेक्रेटरी चुनी गई है।...कोई मामूली बात है?' दद्दा का ऐलान...

यहाँ दूसरा ही दृश्य...दूसरा ही स्वर।

'बस! बहुत हो गई नेतागिरी। चुपचाप कॉलेज जाओ और सीधे घर आओ। ..भले घर की लड़कियों की तरह रहना सीखो...'

एक दृश्यपटल और! बरसात का मौसम! पास के कुछेक गाँव बाढ़ की चपेट

में। दहा की ट्रेड यूनियन के बहुत से मजदूर परिवार उन गाँवों में फंसे थे। दौड़-भाग-धनसंग्रह का काम चल रहा था। तीन दिन बाद गाँव में स्वयंसेवकों का जो पहला दस्ता भोजन-कपड़े और दवाइयाँ लेकर पहुँचा उसमें देवी चौधरी आगे-आगे थी...

देवयानी...हवा का तेज झोंका...भला कैद में कैसे रह सकता है? चुपचाप कॉलेज जाती...और घर लौटती...लेकिन घर लौटने में उसे अकसर देर हो जाती। पता चला कि लाइब्रेरी में बैठकर पढ़ती है। माँ ने संतोष की सांस ली 'चलो देर-सवेर, रास्ते पर तो आई। बड़े दामाद जी ने तो ऐसी बिगाड़ दी थी लड़की...सर पर चढ़ा रखा था उसे...'

...और फिर एक दिन शहर में एक हंगामा हो गया। लहराबीर के चौराहे के पास मन्दिर वाली सड़क पर नेशनल इलेक्ट्रिकल्स, बिजली की दुकान, को लगभग सौ औरतों ने घेर लिया था...'दहेज के लालची बाहर आओ'...औरत पर जुल्म...बन्द करो-बन्द करो' नारों से बाजार गूँज रहा था। बनारस जैसा धर्मप्राण वैष्णव शहर..थिर तालाब में जैसे किसी ने कंकड़ मारा हो, 'क्या जमाना आई गइल भय्या'...'इन लरिकन का घरा बारौ ना। डोल रही हैं सड़क-सड़क मुँह जोरी किए।'

दुकान के मालिक ने पुलिस बुला ली थी। सिटी मजिस्ट्रेट के हस्तक्षेप से दुकान के मालिक की जान में जान आई। टिड्डी दल की तरह टूट पड़ी महिलाओं ने नेशनल इलेक्ट्रिकल्स के मालिक से यह लिखित आश्वासन सबके सामने ले लिया कि वह अपनी बहू को वापिस बुलाएगा जिसे उसने कुछ दिन पहले घर से निकाल दिया था और बहू महिला संघ की सदस्य बन गई थी।

यह घटना अपने आप में ऐसी अनोखी या नई बात नहीं थी। इतना बड़ा शहर..कहीं अच्छा, कहीं बुरा तो घटता ही रहेगा। कहीं चुपचाप हादसे हो जाएँगे तो कहीं प्रतिरोध भी होगा...प्रतिकार होगा। लेकिन मुसीबत! अगले दिन स्थानीय अखबार में पहले पेज पर तस्वीर थी दुकान के मालिक को घेरे हुए औरतें और कुछ पुलिस के आदमी। देवयानी सामने थी...एक पुलिस वाले से उलझती हुई।

...जैसा कि उसे उम्मीद थी, उसकी फिर पेशी हुई थी। लेकिन कब तक? हवाओं ने बाँस की खपच्चियों में बंधने से इन्कार कर दिया था। तट के पत्थरों से बँध सर पटकने की नियति लहरों को स्वीकार नहीं थी। नदी में यदि पानी है तो लहरों को आगे तो बढ़ना ही होगा। उछलती-कूदती, दौड़ती-भागती लहरों को बाँधना विद्रोह को आमंत्रण देना ही तो होगा...

...लेकिन यही लहरें एक दिन बढ़ते-बढ़ते खुद ही थम गईं। दूर से आती किसी स्वर लहरी में खो गई थीं। लहरों से लहरें मिल गईं...ऐसा लगा कि संगीत ही जीवन है। कलाकार से उत्कृष्ट इस संसार में कौन हो सकता है? कलाकार जो अपने संगीत

का जादू लोगों के हृदय में उतार देता है...आत्मा को तल्लीन कर देता है किसी सत्य की खोज में अद्वितीय है ऐसा कलाकार...संगीत साधक।

बेगवती लहरें थम गईं 'सुर संगीत-कला आत्मा का वैभव है बिल्कुल सही। लेकिन रोहन इस संसार का ही जीव है। कला उसकी साधना है लेकिन रोजी रोटी भी है जो बेहद इसी दुनिया की चीजें हैं। आत्मा अलौकिक हो सकती है लेकिन शरीर जो रोटी से बना है इसी लोक की रचना है...थोड़ा देख-समझ ले...इतनी जल्दी ठीक नहीं।'।

और फिर शायद पहली बार जिन्दगी में ददा उससे कुछ कहते हुए झिझके थे ...'और फिर...देवी...तू शायद जानती नहीं कुणाल...कुणाल को तेरा बहुत इंतजार है...' और फिर अचानक मानो कोई गलती पकड़े जाने को भय हो...इस तरह अपना स्वर बदल दिया 'वैसे कुणाल की कोई ऐसी बात नहीं। तेरी अपनी पसन्द पहली चीज है...तू गलत मत समझना। फिर भी किसी और के लिए नहीं...अपने लिए देख-परख ले...'

आश्चर्य! उस दिन उसे ददा का कहा मानों निरर्थक लगा...पहली बार! अम्माँ-बाबूजी की बात तो उसने पहले भी कभी नहीं सुनी लेकिन उस दिन ददा... कुणाल का स्मरण भी कुछ खास उसके ऊपर असर नहीं डाल पाया।

फिर ददा ने ही आगे बढ़ कर उसकी खुशियाँ उसके आँचल के साथ बाँध दीं। उसका रोहन उसे सौंप दिया। अम्माँ और बाबूजी को मना लिया था उन्होंने।

'औरत जब एक बार ठान लेती है...किसी के पीछे चल देती है तो फिर आगा-पीछा कुछ नहीं देखती...' उस दिन उसने गर्वोन्नत होकर सोचा था।

अब! रोहन...उसका प्रियतम! रोहन...कलाकार संगीत उसकी साधना। देवयानी उसका सुर बनकर उसके संगीत में समा जाएगी...स्वर्गिक...अद्भुत...सब कितना सुन्दर...आह्लादकारी। अपने ऐसे ही सौभाग्य की उसने कल्पना की थी।

लेकिन देवयानी की औरत एक बात भूल गई थी। उसका रोहन किसी का बेटा था। उसके माँ-बाप। वे संगीत का सुर नहीं थे। वे स्वर्गिक और अलौकिक नहीं थे। वे कोई क्रांतिकारी नहीं...वे समाज सुधारक भी नहीं थे। नफा नुकसान देखकर तौलने-परखने वाले इस महाजनी समाज के विशुद्ध सांसारिक जीव स्वर्गलोक के सुरों में बहते हुए उसे गंगा की भाँति नीचे धरती पर आना ही पड़ा...और नीचे आकर वह जटा-जूटों में उलझती चली गई...

भिखमंगों की तरह शादी कर दी। न जाने कैसा बड़ा खानदान है और कैसे बड़े ऑफिसर रहे। पड़ोस के हीरालाल बनिए का लड़का...थर्ड ग्रेड क्लर्क। पूरा घर भर गया है शादी के सामान से...

'दहेज के लोभी हाय! हाय!! बिकाऊ दुल्हा...नहीं चलेगा नहीं चलेगा!'

देवयानी को लगा कि उसके आसपास कितने तरह के दृश्य हैं...कितने रंग...अन्दर कुछ और बाहर कुछ। उसे लगा एक अद्भुत कोलाज सी बन रही है उसकी जिन्दगी।

‘अरे बहू माँ ने यह भी नहीं सिखाया कि बड़े-बूढ़ों के सामने सर पर जरा पल्ला ही खींच लिया करो...’ और रोटी पकाती देवी के आगे के बाल और पल्ले की किनारी आटे की सफेदी से भर गई...और उसे याद आया किसी डिबेट में या शायद किसी सभा में जोर-जोर से बोले गए भाषण का अंश

...‘आज की नारी। केवल घर की चारदीवारी और चूल्हे-चौके से बंधी नहीं है। वह देश के सर्वोच्च स्थान पर बैठी शासन की बागडोर संभाले है! वह अन्तरिक्ष में जा रही है...’

अर्धतन्द्रा की स्थिति में समाधिस्त मन जब जाग्रत होता तो वातावरण में शब्द नाचते हुए उसे घेर लेते...वह उठने की कोशिश करती लेकिन...महसूस होता पूरा शरीर दर्द के समुन्द्र में डूबा है। शायद पिछली रात...याद नहीं आता अरे रोहन! तेरी बहू के नखरे हमसे बर्दाश्त नहीं। या तो टपर-टपर जवान चलाएगी या खटिया तोड़ेगी। मैं नौकरी करती हूँ तो इसका फर्ज नहीं कि घर संभाले आखिर क्या कमाई कर रही है यह और तब मानों उसके भीतर की देवी उसे हिला रही हो...

उठ! देवयानी उठ! अड़ोस-पड़ोस में जा। क्यों नहीं अपना भाषण शुरू करती, इकट्ठा क्यों नहीं करती औरतों को निकाल के एक जुलूस ‘तुम्हारी बेटी किसी की बहू, किसी की बेटी तुम्हारी बहू...’ देवयानी को उसका महिला मंडल याद आने लगा किसी गीत की भूली कड़ी की तरह...

वह भूला गीत एक दिन मुकम्मिल होने लगा था जब यशोदा दीदी मिलने आई थीं। अच्छी भली तो थी देवयानी लेकिन वे पहचान ही नहीं पाईं उसे! दरअसल हिन्दुस्तानी बहू चेहरे-मोहरे, पहनावे और मन-मस्तिष्क से एक अलग ही शक्ति अख्तियार कर लेती है। अपनी परम्परा की उस पहचान के साथ अगर देवयानी उनके लिए नितान्त अपरिचित सी हो गई थी तो उसमें उसकी क्या गलती?

कितना सर्द वातावरण था वहाँ घर के अन्दर। दिन में भी शाम का सा धुँधलका अँधेरा! कहीं कोई हरकत नहीं, आवाज नहीं...कोई हलचल नहीं।

‘खिड़की तो खोलो देवयानी कमरे की। रोशनी आएगी धूप आएगी।’ और देवयानी हँस दी थी।

‘धूप चुभती है दीदी आँखों में।’

और फिर वही सन्नाटा।

‘रोहन कहाँ है?’

‘वे तो बाहर गए हैं...प्रोग्राम देने। एक महीने बाद आएँगे।’

‘और तू?’

तू कौन? वहाँ कोई नहीं था।

‘बहुत सदी है दीदी!’ और देवयानी ने अपनी काली शाल कसकर अपने चारों ओर लपेट ली। यशोदा दीदी को लगा कि सन्नाटे की वह चादर उनको भी अपनी गिरफ्त में ले रही है। लिपट रही है उनके चारों ओर...कस रही है उन्हें... अचानक उन्हें लगा कि उनका दम घुट जाएगा और अदबदाकर उन्होंने उधाड़ फेंका। वे उठ खड़ी हुई।

‘मैं चल रही हूँ देवयानी! लेकिन तुम...’ और आगे के शब्द उसी के अरण्य में खो गए जहाँ देवयानी थी...किन्हीं छूटे हुए कदमों की तलाशती।

‘औरत क्या आखिर औरत ही होती है’...चलते वक्त उन्होंने पूछा था...खुद अपने आप से।

लेकिन दद्दा? वे कैसे पहुँचे वहाँ? उनसे किसने कहा? देवयानी के कुछ कहने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। शिकायत? किसकी? किससे? किस मुँह से? उसकी जिद। उसका चुनाव। नारी स्वतन्त्रता! आन्दोलन। धमकी। घर से भाग जाने की धमकी। अपने ही बुने मकड़जाल में फाँस लिया देवयानी ने खुद को।

आशंकित हो उठी वह। रोहन के संसार में सिर्फ उसकी अम्माँ का सिक्का चलता है। बाकी सब कुछ ठीकरा है उसके लिए मिट्टी का। अम्मा हाईस्कूल में अध्यापिका। घर चलता रहा है उनकी कमाई से। रोहन के पिता ने जिन्दगी भर कुछ नहीं किया। सो उनकी क्या हिम्मत जो जवान खोलें। एक बेटा। अच्छा-खासा नाम। पैसा भी। फिर...देवयानी ने जुर्रत कैसे की उनके साम्राज्य में प्रवेश करने की? रोहन बिना रीढ़ की हड्डी का...रेंगने वाला जीव...बिगड़ल बच्चे की तरह। अपना मन पसन्द खिलौना न मिलने पर वह मचलता है...और फिर रूठ कर अपने बाकी खिलौने भी तोड़ डालता है। देवयानी भी तो एक खिलौना है। दिन में कोई खेलता है उससे रात में कोई और...खिलौना, चाभी भरने पर जब मनपसन्द तरीके से नहीं नाचता तो रोहन खीझ जाता है। उसे पटकता है...फेंक देता है उसे तोड़ देना चाहता है।

इसीलिए तो देवयानी नहीं चाहती कि कोई उसके सामने आए। कण-कण बिखरता...छितरे हुए कणों को उड़ता हुआ देखें।

दद्दा। उनके दहकते हुए रौद्र रूप के छितरते हुए अंगारे तो उसने पहली बार देखे थे। रोहन ने भी तो गजब किया।

दद्दा को जानता नहीं वह। देवयानी सिर्फ उसकी बीबी...हिन्दुस्तानी बीबी नहीं दद्दा की देवी भी है उनके शब्दों में महिषासुर मर्दिनी देवी। वह उनके सामने उनकी देवी को ही अपमानित करने पर आमादा हो गया था।

भय और आतंक से अधमरी हो गई थी वह। कसम से...उसे जरा भी चोट नहीं लग रही थी। सर्द हो गई थी यह सोच-सोच कर कि दद्दा के सामने या देवी...लक्ष्मी

रूपाय नमः...चामुण्डाय नमः...कौन? कैसी देवी?...अकड़ी हुई एक सर्द लाश।

अचानक बिजली सी कौंधी थी। समझने में समय लगा था कि क्या हो रहा है।
थाड़! आड़! और रोहन नीचे फर्श पर। दद्दा उसकी छाती पर सवार। एक हाथ ऊपर उठा हुआ और दूसरा उसकी गर्दन पर। कोमल-काया-कलाकार-गौं-गौं कर रहा था।

रोहन कहीं मर न जाय। उसे अब भी कुछ महसूस नहीं हो रहा था। जैसे शरीर, उसका मन-मस्तिष्क सब जम गए हों। एकदम जड़। तो क्या वास्तव में वह लाश ढोती रही है इतने दिनों से? किसी बात पर कुछ महसूस ही नहीं होता।

इसीलिए तो जब दद्दा ने हाथ पकड़ा तो बेहोशी की सी हालत में वह चली आई थी उनके साथ। एक बार भी न कुछ पूछा और न पलटकर किसी की ओर देखा।

जीजी का प्यार। उसके सहलाते हाथों की ऊष्मा...खीझी हुई जीजी की ताड़ना। कितनी शर्म दिलाई थी उन्होंने।

‘हद है देवी! तू इतना बर्दाश्त करती रही? एक बार पीछे मुड़कर देखा होता। क्या थी तू और क्या बनकर रह गई।’

लेकिन देवयानी...आँखों में निरी रेत भर गई हो तो कैसे पीछे मुड़कर देखेगी। एक अथाह रेगिस्तान उग आया था उसके भीतर और वह फैलता ही जा रहा था। सूखे प्यासे होंठ लिए वह भटक रही थी ऊँचे रेत के ढूह के ढूह...लेकिन दों बूंद पानी मानो स्वप्न बनकर रह गया हो।

इस नीम बेहोशी की हालत में वह कितने दिन जीजी और दद्दा के पास रही पता नहीं। सूरज की लाली रोज उसके दरवाजे पर दस्तक दे उसे बाहर बुलाती होगी...दिन की उजास घंटों उसके पास बैठा, समझाता, उसकी पीठ थपथपाता होगा। ..शाम का झुटपुटा उसके माथे को चूम उसे थपकता होगा...लेकिन उसे कुछ भी पता नहीं।

कुणाल अक्सर मौका मिलते ही दो-एक दिन की छुट्टी लेकर आ जाता। उसकी तो बक्-बक् खत्म होने को न आती। लगातार चलने वाले ढेरों किस्से, कहानियाँ। लेकिन उसने एक बार आँख उठा कर उसकी ओर न देखा। उसकी आँखों में तैरते सवालियों का जवाब देवयानी के पास नहीं था। कुछ था तो शरमिन्दगी का एक गहरे तक धंसा अहसास और सूनी आँखों का रीतापन...अम्माँ-बाबूजी भी बनारस से आ गए थे। बाबूजी कभी आते...उसके पास बैठे रहते। अम्माँ...टप्-टप् आँसू टपकाती। ..सिर पर हाथ फेरती...कुछ कहती...सीने से लगाती। लेकिन वह तो चुप थी। एक चिर शाश्वत मौन धारण कर लिया था। शब्द सारे चुक गए थे...

...तभी एक दिन। एक कागज आया था रोहन के वकील का। तलाक का नोटिस।

अबकी तो हद हो गई। इसका कोई असर नहीं। कुछ महसूस नहीं हुआ। उसे अब तो पक्का भारोसा हो चला। सचमुच वह मर चुकी है। उसका दिल, उसका दिमाग उसकी संवेदना...कुछ भी शेष नहीं रहा अब....।

‘रोहन ने कौन सा भेड़िया दिखा दिया है हमारी इस बकरी को कि जीते जागते मुर्दा सी हो गई है’...

दद्दा उसी के सामने जीजी से कह रहे थे बिफर रहे थे मानों अपना चिर संचित धैर्य यकायक खो बैठे हों। लगभग चीख उठे थे।

फिर जैसे अपने चीखने का अहसास इन्हें हुआ अपनी ही आवाज पर शर्मिन्दा हो उठे। यथावत। गजब का धैर्य। ठहाका मार कर हँस दिए। सब कुछ फिर से पहले जैसा...सामान्य।

कुछ सोचते हुए कहने लगे वह, धीरे-धीरे ‘देवयानी! तू रही आखिर औरत की औरत। विशुद्ध भारतीय नारी...आदर्श...हो-हो-हो’ फिर वही ठट्ठा। जीजी मुँह ताकने लगी थीं उनका।

‘जानती हो सुधा! वहाँ क्या हुआ था। हमारी यह महिषासुर मर्दिनी, देवी चामुण्डा तो बकरी बनी खड़ी थी कोने में और रोहन...क्या कमाल की गालियाँ दे रहा था इसे...चुन-चुनकर। काफी बड़ा स्टॉक है उसके पास गालियों का...उसका संगीत सुनतीं तुम उस समय। क्यों देवी...कौन सा राग था वह...’ दद्दा हँस रहे थे।

जीजी के कुछ समझ में नहीं आया। यह आज क्या बखान करने लगे...क्या हो गया है इन्हें?

देवयानी का पूरा शरीर झनझना उठा। उसका मजाक उड़ा रहे हैं। कान की लवें सुर्ख होकर जलने लगी थीं।

दद्दा की कथा पूर्ववत चालू थी...

‘और सुनो। हमारी महिषासुर मर्दिनी तो बकरी बनी और वह महिषासुर बाघ बना हुआ। मैं तो समझा कि शायद नाटक में अपना-अपना पार्ट बदल लिया है। इन्होंने फिर जानती हो उस महिषासुर ने हमारी देवी चामुण्डा के केश पकड़ लिए और मुझे तो लगा कि आज देवी पुराण उलट जाएगा हमारी देवी जी नीचे, जीभ निकाले और महिषासुर ऊपर खड़ा सँभाले...हो-हो-हो-हो’ फिर वही ठहाका।

लगता था पागलपन का दौरा पड़ गया दद्दा को। हद हो गई। बस कीजिए..देवयानी को सपने में भी गुमान नहीं था कि दद्दा इतने क्रूर हो सकते हैं। उसकी दुर्दशा का ऐसे बखान कर रहे हैं मानों किसी मेले की नौटंकी सुना रहे हों। इतना अपमान। उसके अपमान का किस्सा सुना रहे हैं और हँस रहे हैं...ठहाके लगा रहे हैं।...

वो रो रही थी। जार-जार रो रही थी। औरत थी न इसलिए रो रही थी

‘मैं चली जाऊँगी, अभी चली जाऊँगी...नहीं रहना मुझे यहाँ...’ वह चीख रही थी हिस्टीरिया के रोगी की तरह जोर-जोर से। उसे लगा कि वह न जाने कब से चीखती रही है...अनंतकाल से चीख रही है इसी तरह...

शुक्र है...यह बोली तो...जीजी ने किसी से फुसफुसाकर कहा था।

मुकदमे के लिए दद्दा साथ जा रहे थे। उसी ने मना कर दिया।

‘मैं अब बिल्कुल ठीक हूँ दद्दा! आप फिक्र न करें।’

हँस दी वह। ‘सब काम कर निबटा कर ही लौटूंगी...सही सलामत...’

दद्दा का मन भीग-भीग आया। घनघोर बारिश के बाद निकली धूप की तरह धुली-धुली चमकदार उसकी हँसी फिर से लौट आए आत्मविश्वास से गमकती। दद्दा आश्वस्त थे अब। उन्होंने बिल्कुल जिद नहीं की साथ जाने की।

बहुत कुछ कहना चाहती थी देवयानी लेकिन बीच में पसर गया असमंजस... तब आँखों ने राह दी थी शब्दों को, मैं भूल गई थी दद्दा कि मैं सिर्फ देवयानी नहीं और भी कुछ हूँ। मेरी समस्त भुजाएँ फिर सक्रिय हैं...मेरा खड़ग...मेरा शंख, मेरा समस्त पूर्ण जाग्रत है...

तभी तो रोहन के ही पड़ोस में अपनी सहेली के पास रही वह। एक या दो दिन नहीं...पूरे पन्द्रह दिन। कोर्ट...वकील...जिरह...रोहन...फिर जिरह,...फिर वकील...फिर रोहन...

देवी की नजरों में रोहन अब सिर्फ एक रक्तबीज था...उसकी आत्मा का रक्तबीज। उसे अलग करना था अपने शरीर से अपने मन से मस्तिष्क से रक्तबीजों को तो नष्ट करना ही होगा, वरना आप स्वयं नष्ट हो जाएँगे...

...‘बताइए बहिनजी...कहाँ जाना है अब। कॉलिज रोड तो आ गया’ रिक्शावाला पूछ रहा था। स्टेशन से घर तक खासा लम्बा रास्ता। थोड़ा हॉफ रहा था वह।

‘हाँ! वाकई आ गए हम अपने घर।’ देवयानी मानों अचानक कहीं दूर से लौट आई हो। धरती से बहुत दूर...अन्तरिक्ष...पाताल...न जाने कहाँ-कहाँ चली गई थी वह।

सामने दरवाजे पर अम्माँ खड़ी थीं और बराबर में खड़ी थीं यशोदा दीदी।

‘अरे यशोदा दीदी! इन्हें कैसे मालूम हुआ कि मैं आने वाली हूँ।’ सोचते हुए मुस्कुरा दी वह और फिर तुरन्त ही गम्भीर हो गई गुरु गम्भीर।

‘क्या हुआ देवयानी सब कुछ ठीक तो हुआ?’ यशोदा दीदी किंचित परेशान सी लगीं और आगे आ गई उसके पास।

‘नमस्ते दीदी!’ देवयानी उसी तरह गम्भीर थी और रिक्शेवाले को पैसे दे रही थी। अम्माँ दहलीज पर खड़ी थीं उसी प्रकार। किसी अप्रिय समाचार की आशंका से ग्रस्त। उनके पैर वहीं जमे थे।

‘क्या हुआ देवयानी? कुछ बोल न।’ यशोदा दीदी ने उसके अटैची वाले हाथ को लगभग झिंझोड़-सा दिया। देवयानी अभी भी गम्भीर थी। अम्माँ के पैरों की ओर झुककर स्पर्श करने का उपक्रम किया। अम्माँ ने बीच में ही रोक लिया।

‘होना क्या था दीदी!’ और दरवाजे से अन्दर आ गई। देहरी के भीतर आने पर धीरे से अटैची नीचे रख दी। यशोदा दीदी की ओर देखती रही, एक क्षण शरारत भरी नजरों से और फिर अचानक खिलखिलाकर हँस पड़ी

‘मैं मुक्त हो गई दीदी। अम्माँ! मैं मुक्त हूँ अब। पूर्ण मुक्त...!’

देवयानी की हँसी...जलते हुए अनार के रंग-बिरंगे फूलों की झड़ी लग गई थी हँसी थम ही नहीं रही थी।

